यज्ञतन्त्रसुधानिधिः

[श्रीसायणाचार्यविरचित हस्तलिखित दुर्लभ पाण्डुग्रन्थ,
'रचनाकाल, शक १७३६' का एक आलोचनात्मक सम्पादन]

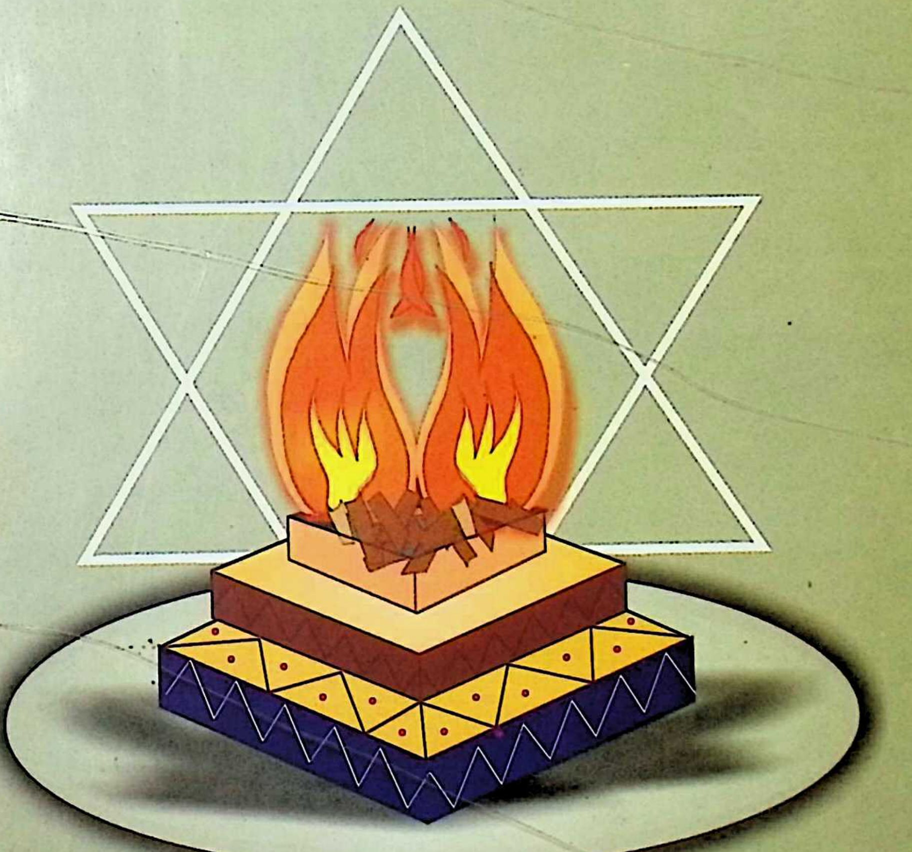

सम्पादिका
डॉ. मिताली देव

श्रीजी पब्लिकेशन
वाराणसी

यज्ञतन्त्रसुधानिधिः

(श्रीसायणाचार्यविरचित हस्तलिखित दुर्लभ पाण्डुग्रन्थ, 'रचनाकाल शक, १७३६' का एक आलोचनात्मक सम्पादन)

[पाण्डुग्रन्थ का संस्कृत भाषा में प्रस्तावना, भूमिका एवं मौलिक व्याख्या सहित सम्पादन]

व्याख्याकर्त्री

डॉ. मिताली देव

एम.ए., पी.एच.डी., डी.लिट्

पोस्ट डाक्टोरल फेलो,

कल्चर विभाग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय,

भारत सरकार, नई दिल्ली

❖

प्रकाशक

श्रीजी पब्लिकेशन

वाराणसी

२००२

प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त

प्रकाशक

श्रीजी पब्लिकेशन

जे. १२/५ नाटी इमली

वाराणसी-२२१००१

▢

व्याख्याकर्त्री

डॉ. मिताली देव

एच-९, एच.आई.जी. फ्लैट्स,

विकास प्राधिकरण, रविन्द्रपुरी एक्सटेंशन

वाराणसी-२२१००५ (उ.प्र.)

फोन : (०५४२) ३१५३

▢

© सम्पादिकाधीन

संस्करण – प्रथम, २००२

प्रतियाँ – १०००

मूल्य – ६१.०० रूपये

▢

मुद्रक

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स

नाटी इमली, वाराणसी।

YAJÑATANTRASUDHĀNIDHI

(A Critical edition of Śrī Sāyaṇācārya's Rare Manuscript)

[The text edited with an original commentary and introduction in Sanskrit]

BY

DR. MITALI DEB

M.A., Ph.D., D.Lit

Post Doctoral Fellow,

Department of Culture,

Ministry of Human Resource Development,

Government of India, New Delhi

PUBLISHER

SHREEJEE PUBLICATION

VARANASI

2002

PUBLISHED WITH THE FINANCIAL ASSISTANCE FROM THE RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN, NEW DELHI

Published by

Shreejee Publication

J. 12/5, Nati Imli

VARANASI-221 001.

Edited by

Dr. Mitali Deb

H-9, HIG Flats, Vikas Pradhikaran,

Ravindrapuri Extension,

Varanasi-221005 (U.P.)

Phone : (0542) 315316

© Editor

Edition-First, 2002

Copies : 1000

Price : Rs. 61.00

Printed by

Shreejee Computer Printers

Nati Imli, Varanasi.

समर्पणम्

पदवाक्यप्रमाणशास्त्राब्धोधिमन्दरायमाणानां श्रीशारदसारदसम्प्रतिपत्तिसम्पन्नानामनेक विषयोपबृंहितविशुद्धान्तःकरणानां श्रीपद्मविभूषणादिकबहुसम्मानोपाधिजुषां दिगन्तविश्रान्तविशुद्धविश्रवसां पं. श्रीबलदेवोपाध्यायानामाचार्याणां श्रिया कीर्त्या विभूत्या तेजसा प्रतिभया लोकोत्तरादूष्यवैदुष्येन विभूषितानां चरणकमलेषु समर्प्यते—

काशीपण्डितमण्डलार्चितपदः श्रीपद्मभूषाञ्चितो
विद्यावाग्विनयप्रकृष्टयशसा ब्राह्मश्रिया संभृतः।।
विद्वद्गम्यगभीरतत्त्वविषयैर्ग्रन्थैः स्वयं निर्मितै-
राचार्यो बलदेवपण्डितवरो धत्ते जगद्गौरवम् ।।

पद्मविभूषण स्व.पं. बलदेवउपाध्यायमहोदयानां
सादरं समर्पणम्

विष्णुकान्त शास्त्री
राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

सत्यमेव जयते

१६८५ बी.एच-एच ई
राजभवन
लखनंऊ- २२७१३२

नवम्बर २१, २००१

प्रिय मिताली जी,

सस्नेह नमस्कार!

यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आपने अत्यन्त दुर्लभ एवं अप्रकाशित श्री सायणाचार्य कृत ''यज्ञतन्त्रसुधानिधि'' जैसी महत्त्वपर्ण पाण्डुलिपि का सम्पादन किया है। आपकी इस साधना ने भारतीय संस्कृति के एक उज्ज्वल पक्ष को, उसके समुचित सन्दर्भ में उद्भासित किया है।

आपको इस पुण्य कार्य के लिए हार्दिक बधाइयाँ।

सानन्द रहें, सर्जनारत रहें।

शुभेच्छु,

(विष्णुकान्त शास्त्री)

प्रति,

डॉ. मिताली देव
एच. ९, एच.आई.जी. फ्लैट्स.
विकास प्राधिकरण,
रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन,
वाराणसी-२२१००५

ॐ

कुबेरनाथ शुक्ल
व्याकरणाचार्य, एम.ए.
महामहिम राष्ट्रपति, भारत एवं उत्तर प्रदेश
संस्कृत संस्थान, लखनऊ द्वारा सम्मानित
पूर्व कुलसचिव तथा कुलपति एवं सम्मानित-प्राध्यापक
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

दूरभाष : २०५४०९
जे. १२/८१ ए., धूपचण्डी
वाराणसी-२२१ ००२

प्रिय डॉ. मिताली देव,

आपके द्वारा सम्पादित सायणाचार्यकृत ग्रन्थ ''यज्ञतन्त्रसुधानिधि'' की प्रस्तावना एवं वैदुष्यपूर्ण भूमिका का मैंने अवलोकन किया। प्रस्तावना में सायणाचार्य के जीवनवृत्तान्त तथा उनके ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई है। वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकारों में सायणाचार्य का स्थान सर्वोपरि है। अतः उनके तथा उनके कृतित्व के सम्बन्ध में प्रकाश डालना सर्वथा उचित है। भूमिका में आपने वैदुष्य एवं कौशल से विषयोपस्थापन किया है, जिससे श्रौतयागों के सम्बन्ध में पुष्कल सामग्री उपलब्ध हो गई है।

वेद-विभाग के छात्रों, अनुसन्धाताओं एवं अध्यापकों के लिए भी पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। सांस्कृतिक दृष्टि से यज्ञों के सम्बन्ध में जिज्ञासु पाठकों को भी ग्रन्थ उपादेय तथा रुचिकर प्रतीत होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार प्रजापति ने यज्ञों के साथ प्रजा की सृष्टि की और कहा कि—

'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।।' (भा.गी., ३-१०,११)

अतः अनादिकाल से भारत में यज्ञानुष्ठान होता आ रहा है। आजकल भी यज्ञानुष्ठान समय-समय पर होते रहते हैं। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

राजा मरुत्त के यज्ञ में देवगण देवराज इन्द्र, देवगुरु बृहस्पति तथा वरुणदेव के साथ प्रत्यक्ष उपस्थित हुए थे। अपना-अपना भाग लेकर सब चले गये। राजा ने ब्राह्मणों को दक्षिणा में सुवर्ण का पर्वत दान में दिया। ब्राह्मण दक्षिणा लेकर चले गए और सुवर्ण का पर्वत वैसे पड़ा रहा। यह है चमत्कार।

अन्त में मैं डॉ. मिताली देव को उनकी भव्य रचना और कवि पर हार्दिक बधाई देता हूँ और उनके उज्ज्वल भविष्य की शुभ कामना करता हूँ।

(कुबेरनाथ शुक्ल)

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
समवाप्तराष्ट्रपतिसम्मानः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयीयः
वाराणसी - २२१००२ (उ.प्र.)

दूरलेखः : 'श्रुतम्'
दूरभाषः :
कार्यालयः : (०५४२) २०४०८९
निवासः : (०५४२) २०४२१३
: (०५४२) २०६६१७
फैक्स : (०५४२) २०६६१७

नान्दीवाक्

वेदविद्याप्राचीदिगवभासनभास्कराणां विजयनगरसाम्राज्यपाण्डितीसाक्षिभूतानां हरिहरबुक्कभूपतिसमर्च्यचरणानामाचार्यसायणपादानां सारस्वतसमज्ञया निखिलमेव त्रयीवाङ्मयमवदातं परिलक्ष्यते। यद्ययमाचार्यतल्लजो भारतभुवं नाऽलमकरिष्यत्तर्हि निश्चप्रचं गूढाभिप्रायमन्त्रमयी त्रयी चिरं यावदविदितप्रायैवास्थास्यत्। स्वामिविद्यारण्याऽनुजोऽयं सायणोऽनेकेषां वेदशाखासमवायानां भाष्यजातं प्रणिनायेति नाऽविदितं साहितीसूत्रधाराणाम्। आचार्यप्रवरस्सायणो लोकरुचिं समाराधयन् सनातनधर्मसम्पोषणपरं वेदभाष्यं चकार यस्मिन् सन्दृश्यते तस्यैतिहासिकी दृष्टिः। समर्थयतेऽसौ मीमांसाव्याख्यातं कर्मकाण्डं, पुराणविशदीकृतं च देवशास्त्रम्। इयं पद्धतिरेव सायणभाष्यं लोकहृदये प्रतिष्ठापितवती।

तादृग्गुणविशिष्टानां विविधशास्त्रावगाहननिर्मलधियां विश्रुतयशसामार्षप्रज्ञा-पटिष्ठानामाचार्यसायणानामेव ग्रन्थरत्नान्यतमं **यज्ञतन्त्रसुधानिधिसंज्ञं** पाण्डुलिप्यवस्थ-मवलम्ब्य सारस्वतश्रमं कमपि निर्व्यूढवती सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्यैवाऽस्य विद्यावाचस्पत्यनुसन्धात्री विदुषी **देवोपनाम्नी मिताली**।

श्रौतयज्ञानुष्ठानप्रयोगविधिविषयेऽन्तिमेयं कृतिराचार्यसायणस्येति कोविदाः। इदानीं यावदप्रकाशितेयं महार्घा कृतिरित्यपि संशीतिविरहितं तथ्यम्। १७३६ मितशकाब्दे प्रणीतेयं रचना। सेयं कृतिः सुरक्षिताऽतिष्ठत् विश्वविश्रुते सरस्वतीभवनाख्ये सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयीये ग्रन्थागार इत्यहो सौभाग्यमस्य विद्यामन्दिरस्य! अनन्यत्रोपलब्धाऽसौ कृतिर्मितालीदेवनाम्न्या विदुष्या सम्यक्सम्पादिता, नवदेहलीस्थेन राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन (सम्प्रति मानितविश्वविद्यालयेन) प्राकाश्यमुपनीताऽक्षिलक्ष्यीक्रियते विपश्चित्समवायेनेति दृष्ट्वा सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयकुलपतिगौरवमहिम्ना महान्तमामोदभरमाबिभर्मि।

अस्य ग्रन्थरत्नस्य सम्पादयित्री विदुषी मिताली समेषामेव विद्यानुरागरञ्जितहृदयानामाशीर्वचांसि साधुवादाँश्चार्हति।

ग्रन्थः क्व गूढभावोऽयं यज्ञतन्त्रसुधानिधिः।
क्व चेयं विदुषी नूनं निसर्गादेव कम्रधीः??

तथापि . महत्या निष्ठया सम्पादितवती सा ग्रन्थमिमम्। सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयप्राङ्गणे एवंविधा प्रतिभाङ्कुरा उत्तरोत्तरमाविर्भवन्त्वित्येव कामयेऽहम्। सारस्वतोपक्रमैरेव प्रह्वीभवति भगवती सरस्वती, नाऽन्यथा। एभिः शब्दैर्मितालीमाशीर्वचोभिरभिनन्दन्नहं ग्रन्थस्यास्य विद्वत्समज्याभिनन्दनीयतां कामये।

ससाधुवादम्
मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
२७।६।२००२

फोन { कार्यालय : ०५२२-७८०२५१
आवास : ०५४२-२१०९३५

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-संस्थानम्

संस्कृत-भवनम्, नया हैदराबाद, लखनऊ-२२६००७

डॉ. नागेन्द्र पाण्डेय
अध्यक्ष

आवासीय पता :
म.नं. एस. २३/१ डी, डेलवरिया
चौकाघाट, वाराणसी-२२१००१

शुभाशंसनम्

कस्यापि गूढतमस्य विषयस्य परिज्ञानार्थं वेदा एव निदर्शका भवन्ति। यस्य कस्यापि विषयस्य अन्तिमेत्थं प्रमाणमपेक्षते तदा तु वेदप्रामाण्यं सुप्रथितम्। यथोच्यते—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।' एवं सर्वप्रमाणभूतोऽयं वेदः कथं सामान्यजनोपयोगार्थं सुविदितः स्यादेतदर्थमनेकैराचार्यैः प्रयत्नो व्यधायि। तत्र बहुविश्रुतस्य सायणाचार्य-महाभागस्य परलोककल्याणकारकस्य नाम को न श्रुतवान्, वैदिकोऽवैदिको वा विद्वान्? नूनं तेन वैदिकपरम्परायाः समुन्नतये स्वकीयं पूर्णमपि जीवनं समर्पितम्। इदानीमप्यस्य कृतयो वेदार्थजिज्ञासूनां कृते उपजीव्यतां भजन्ते। प्रस्तुतोऽयं **'यज्ञतन्त्रसुधानिधिः'** यज्ञकर्मोपपादनार्थं सुधानिधिरेवास्ति। सम्यगेवोक्तमस्य ग्रन्थस्यावतरणिकायाम्—

'सङ्गृह्य सारं कृतवान् वेदशास्त्रार्थकोविदः।
यज्वनां परमप्रीत्यै यज्ञतन्त्रसुधानिधिम्।।

कालस्यायं प्रभावो यदस्य महत्त्वपूर्णस्य ग्रन्थस्येदानीं यावत् क्वापि केनापि प्रकाशनं न कृतम्। दुर्लभस्यास्याप्रतिमस्य ग्रन्थनिधेः सुमहत् प्रयत्नेन प्रकाशनं श्रीमत्या **डॉ. मितालीदेवदेव्या** कृतमिति महान् प्रमोदस्यावसरः। इयं हि महोदया वैदिकशास्त्राणां समुद्धारणे, अमिता बुद्धिसम्पन्ना विराजते। बहूनां ग्रन्थानां, शोधनिबन्धानां प्रणयने चेयं संलग्नचित्ता, गूढान्वेषिका च विद्यतेऽत्र नास्ति सन्देहावसरः। प्राचीनपाण्डुलिपिषु वाचनं, संशोधनञ्च कथं कठिनतमं कर्मेति, तत्र कर्मणि संलग्ना विद्वांसो विजानन्ति। सद्गृहस्थेयं सर्वमपि पारिवारिकमुत्तरदायित्वं वहन्त्यपि यथा विद्याव्यसने व्यापृता विद्यते, इति तु वाग्देव्या एव साक्षात् कृपा, इति मे विश्वासः।

निश्चितरूपेण 'डॉ. मितालीदेवमहोदया' भविष्यत्कालेऽपि सरस्वत्याः समुपासने सिद्धिं प्राप्स्यति, तथा च अन्येषामपि ग्रन्थानां प्रणयने कीर्तिमवाप्स्यतीति मदीया शुभकामना, दृढा च ममावधारणापि।

शिवाय सर्वलोकानां यज्वनां वर्धनाय च।
प्राशस्त्यं प्राप्नुयादेष यज्ञतन्त्रसुधानिधिः।। इति।

नागेन्द्रपाण्डेयः

दिनाङ्कः : ६.१२.२००१

नागेन्द्रपाण्डेयः

दो शब्द

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्।।

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्।।

(श्रीमद्भागवत-१२/१३/११-१२)

कालिका-पुराण में उल्लिखित है **'सर्वं यज्ञमयं जगत्'** (३१.४०)। यज्ञ ही वैदिक धर्म का मेरुदण्ड है। वैदिक वाङ्मय में महत्त्व की दृष्टि से यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अध्ययन काल से ही वैदिक विषयों में, मुख्यरूप से यज्ञ-यागादि के प्रति मेरी विशेष जिज्ञासा रही है। फलतः 'अश्वमेध के सांस्कृतिक विश्लेषण' एवं 'यज्ञ द्वारा अध्यात्म एवं पर्यावरणपरिरक्षण तथा स्वास्थ्यसंरक्षण' जैसे विषयों पर प्रभूत शोधकार्य के पश्चात् वेदों के प्रकाण्ड विद्वान्, सुप्रसिद्ध भाष्यकार श्री सायणाचार्य एवं उनके कृतित्व के विषय में मेरी रुचि जागृत हुई।

वेदविषयक दुर्लभ पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों के अध्ययन के सन्दर्भ में मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अतिसमृद्ध सरस्वतीभवन पुस्तकालय, वाराणसी में प्रायः जाती रहती हूँ। इसी क्रम में दुर्लभ एवं अप्रकाशित पाण्डुलिपियों की सूची में मैंने श्री सायणाचार्य विरचित एवं शकाब्द १७३६ में हस्तलिखित, **'यज्ञतन्त्रसुधानिधि'** नामक पाण्डुलिपि को देखा और उसी समय मेरे मानसपटल में इसको सम्पादित कर विद्वानों के सम्मुख प्रकाशित करने की अभिलाषा जागृत हुई। श्रौत यज्ञों के अनुष्ठान एवं प्रयोगविधि के विषय में श्री सायणाचार्य की यह अन्तिम तथा चरम रचना है तथा प्रकाशनशिल्प के इतिहास में यह दुर्लभ पाण्डुलिपि अभी तक अप्रकाशित है।

मैंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति महोदय प्रो० राममूर्ति शर्मा जी की अभारी हूँ, जिनकी अनुमति से इसकी छायाप्रति प्राप्त हुई और इस प्रकार मेरी इच्छा को मूर्त रूप मिलने का क्रम प्रारंभ हुआ।

तदनन्तर मैं माननीय विद्वान् प्रो. वी.कुटुम्ब शास्त्री जी, निदेशक राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने न केवल मेरी कृति को प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया, वरन् वित्तीय सहायता भी प्रदान की।

विगत वर्षों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप वधिर के शब्दश्रवण, पंगु के गमनागमन, मूक के वाक्प्रयोग तथा अन्ध के रूप-दर्शन की चमत्कारिक स्थिति की भाँति यह सम्पादन कार्य दृष्ट स्वप्न के साकार सुमधुर फल के सदृश है।

इस सम्पादन कार्य के सम्पन्न होने में जिन जिन महानुभावों ने अपना अमूल्य सहयोग एवं आशीर्वाद प्रदान किया है, उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम मैं अपने पिता प्रो. अरूप देव एवं माँ अरुणा देव के पावन पुण्य चरणों में नतमस्तक हूँ, जिन्होंने उच्चाध्ययन एवं अनुसंधानकार्य में स्नेह एवं यथेष्ट मार्गदर्शन दिया।

मैं परमपूज्य आचार्य स्वर्गीय पं. बलदेव उपाध्याय जी, जिन्हें मैं 'बाबा जी' कहती थी, को अपनी प्रणामाञ्जलि निवेदन करती हूँ और अपने प्रथम संपादित ग्रन्थ **'यज्ञतन्त्रसुधानिधि'** को उनके श्रीचरणों में समर्पित करती हूँ। दीर्घप्रयाससाध्य इस सम्पादन-कार्य के पुरोधा और इसका शुभारम्भ करने की सत्प्रेरणा देने वाले आचार्य जी के प्रति मैं सदा कृतज्ञ रहूँगी।

परमपूज्य विद्वानों एवं गुरुवर्यों के क्रम में माननीय महामहिम श्री विष्णुकान्त शास्त्री महोदय (राज्यपाल, उत्तर प्रदेश), पं. कुबेरनाथ शुक्ल (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) प्रो. राममूर्ति शर्मा जी (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी (कुलपति, श्री लाल बहादुर-शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली), प्रो. राजेन्द्र मिश्र जी (कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) डॉ. नागेन्द्र पाण्डेय जी (अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ) की मैं हार्दिक आभारी हूँ, जिनके प्रोत्साहन, अमूल्य सुझाव एवम् आशीर्वाद ने इस शोधकार्य के सम्पूर्ण होने में मेरी महती सहायता की।

ईक्ष्यशोधनप्रवीण डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय जी एवं श्रीजी मुद्रणालय के संचालक श्री अनूप कुमार नागर जी को साधुवाद देना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ; क्योंकि इन्हीं के सत्प्रयासों से इस ग्रन्थ का उत्कृष्ट प्रकाशन संभव हो सका।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी कृतियों एवं विचारों से प्रस्तुत पाण्डुलिपि के सम्पादन कार्य में सहायता मिली।

अत्यन्त कष्टसाध्य यह लघु प्रयास, यदि वेद के अनुसंधानकर्त्ताओं एवं उसके अध्येताओं की आकांक्षा के अनुरूप उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगी। सुधीजन सम्भावित त्रुटियों को क्षमा करेंगे। स्खलन मानव स्वभाव है।

पुनश्च अपने धन्यवाद ज्ञापन का समापन मैं श्रीमद्भगवद्गीतोक्त वचनों से करती हूँ—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः।।

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः।। (श्रीमद्भागवत १.२.२८-२१)

वाराणसी
श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
वि.सं. २०५९

निवेदिका
मिताली देव

मङ्गलाचरणम्

श्रीविश्वनाथमखिलोत्तमसाध्यसिद्धिं
सन्दातुमत्र भुवि काशिकृताधिवासम्।
पूर्णाम्बिकानुगतमुन्नतदेवपूज्यं
नित्यं नमामि निजपूर्णमनोरथाय।।१।।

पितामहमहं वन्दे रमेशं चन्द्रदेवकम्।
यस्यानुग्रहतः कुर्वे यज्ञतन्त्रसुधानिधिम्।।२।।

अरूपदेवदेवात्मपितरं नौमि सादरम्।
यदात्मप्रश्रयोद्भूता साऽहं कार्तार्थ्यमागता।।३।।

अरुणा करुणामूर्तिर्माता वन्द्या निरन्तरम्।
यस्या वश्याऽहमेतस्याः कृतेः कर्तृत्वमाप्नुवम्।।४।।

यज्ञप्रयुक्तं चिरतन्त्रजातं
विविच्य सर्वं स्वमनोऽनुरूपम्।
मया कृतः कोऽपि निधिर्विशिष्टः
शिष्टैः सुधीभिः परिवर्धनीयः।।५।।

❁ ❁ ❁

विषयानुक्रमणिका

प्रास्ताविकम्	१-६
ग्रन्थ-परिचय:	१
सायणनिर्मितानां संहितापञ्चकभाष्याणां पौर्वापर्यम्	२
ब्राह्मणानां भाष्याणि	३
आयुर्वेदसुधानिधि:	३
यज्ञतन्त्रसुधानिधि:	३
श्रीमत्सायणाचार्यस्य जीवनवृत्तम्	५
सायणाचार्यस्य गुरव:	६
सायणस्य आविर्भावसमय:	६
भूमिका	७-४७
यज्ञतन्त्रम्	७
श्रौतयागा:	२४
अग्न्याधानम्	२६
पवमानेष्टि:	२७
अग्निहोत्रम्	२७
दर्शपूर्णमासो याग:	२८
श्रौतयागप्रयोग:	२९
श्रौताग्निपरिग्रहणसमयो यागसंस्था च	३१
अग्निचयनम्	३१
चितेश्चयनम्	३१
सुपर्णाचिति:	३२
पृष्ठ्यस्वरूपं सोमयागश्च	३२
आप्तोर्यामयागस्य वैशिष्ट्यम्	३२
श्रौतयागेषु ऋत्विजां संख्यानियम:	३३

ऋत्विग्गणस्तत्संख्या नामानि च	३३
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणानियमः	३३
श्रौतयागे सकलवेदानामुपयोगः	३४
उखासम्भरणम्	३४
इष्टकानिर्माणम्	३४
श्रौतयागदीक्षा	३५
दीक्षणीयेष्टिविधानम्	३६
दीक्षितनियमाः	३६
महावीरसम्भरणम्	३६
गार्हपत्यचयनम्	३७
यागसमापनप्रतिज्ञा	३७
प्रातःप्रवर्ग्यप्रचारः	३८
इष्टकाभिश्चितेश्चयनम्	३८
शतरुद्रियहवनम्	३९
प्रवर्ग्योत्सादनविधिः	३९
प्रधानदिवसविधिः	४०
स्तोत्रशस्त्रारम्भः	४०
अवभृथयागः	४१
मैत्रावरुणी (अनुवन्ध्या)	४१
यज्ञेन पर्यावरणशुद्धिप्रक्रिया	४१
मूलग्रन्थारम्भः	**४९-९२**
संपादितमूलपाण्डुग्रन्थः	४९-५४
कर्माङ्गभूतप्रयोगः	५४
गणहोमः	५४
अग्न्याधानविधिः	५९
अग्न्याधेयनक्षत्राणि	६०
अग्न्याधेयप्रयोगक्रमः	६२

वरदानम्	६३
नक्षत्राणि	६३
तत्र क्रमः	६४
ऋत्विग्वरणम्	६५
ब्रह्माणमध्वर्युर्वृणीते	६५
होतारं पूर्ववद्वृणीते	६५
अग्निवरणम्	६६
चतुर्विधो मधुपर्कः	६७
अग्न्यायतनम्	६८
वेदिमानक्रमः	६८
अरण्याहरणंविधिः	७०
वानस्पत्या	७१
गोपितृयज्ञः	७२
अभ्यञ्जनम्	७६
पुत्रयाचना	७६
राष्ट्रभृतः	७७
अमात्यहोमः	७८
सर्वौषधिहोमार्थमधिवृक्षः	७९
निरुप्तानभिमर्शनम्	८०
उद्गातृसंवादः	८४
पवमानेष्टिः	८९
अग्निहोत्रारम्भः	९१
अभिदेवत्या प्रथमेष्टिः	९१
अग्निहोत्रहोमद्रव्याणि	९२
मन्त्र-श्लोकानुक्रमणिका	९३-९६
मूलपाण्डुग्रन्थस्य कतिपयपृष्ठाः	९७-१००

प्रास्ताविकम्

'यज्ञतन्त्रसुधानिधिः' श्रीमद्राजाधिराजश्रीपरमेश्वरवीरहरिहरसकलसाम्राज्यधुरन्धरेण वैदिकमार्गस्थापनाचार्येण श्रीसायणाचार्येण विरचितममुद्रितं पाण्डुलिपिग्रन्थं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवनपुस्तकालये वर्तते। अस्यैका प्रतिः सम्पूर्णा स्पष्टाक्षरा चास्ते (पत्रसंख्या १.३९, पृष्ठसंख्या ७८, पङ्क्तयः प्रतिपृष्ठे १२, एकपङ्क्तौ प्रायः ३८ अक्षराणि, दीर्घविस्तारौ ९.८''×४.१'' इञ्चात्मकौ क्रमशः)। एतत्पुस्तकमद्यावध्यमुद्रितमन्यत्र च दुर्लभमासीत्।

सायणाचार्यो बहून् ग्रन्थान् रचयामास। तेषां शीर्षस्थानं वेदभाष्याणि भजन्ते। अन्येऽपि ग्रन्थास्तत्तच्छास्त्रविषयेऽत्युपकारकाः सन्तीति ध्रुवं तदालोचनया प्रतीयते। ते च सर्वे विरचनक्रमेण निर्दिश्यन्ते—

१. **सुभाषितसुधानिधिः**—नीतिवाक्यामृतानां सरसः सञ्चयः, कम्पमहीपते राज्यकाले सायणेन विरचितोऽयं ग्रन्थस्तद्ग्रन्थेषु विवेचनक्रमेण प्राथम्यं भजते।

२. प्रायश्चित्तप्रतिपादनपरो ग्रन्थो धर्मशास्त्राभ्यासिनां भृशमुपकारमावहतीत्यस्माकं विश्वासः।

३. **अलङ्कारसुधानिधिः**—विचित्र एव काव्यालङ्कारप्रतिपादनपरोऽयं सायणनिर्मितो ग्रन्थः। दुःसंयोगतया कृत्स्नो ग्रन्थो नाद्यापि कुत्रचित् समुपलभ्यते। अस्मिन् दश उन्मेषा विलसन्तीति सन्दर्भः श्रूयते। आर. नरसिंहाचार्यमहोदयस्य सविधे उन्मेषत्रयात्मक एवापूर्णो ग्रन्थो वर्तते। अत्रत्यानि सर्वाण्युदाहरणान्यलङ्काराणां सायणाचार्यस्य जीवनवृत्तमवलम्बन्त इतीतिहासज्ञानां परमं प्रमोदास्पदम्। बह्वलङ्कारग्रन्थेषु कवेराश्रयदातुरेव जीवनवृत्तानुबन्धीनि श्लोकजातानि दृष्टान्तत्वेन समुपन्यस्तान्युपलभ्यन्ते। अत्र तु कवेरेव भूयान् विशेषः।

४. **धातुवृत्तिः**—पाणिनीयमतमनुसृत्य विरचितो धातुविषयकोऽतिप्रामाणिकोऽयं ग्रन्थः सर्वत्र विद्वत्समाजे जागर्ति। लोके इयं 'माधवीया धातुवृत्तिः' इति नाम्ना विख्याता वर्तते; परन्तु सायणाचार्य एवास्या रचयिता न

माधवाचार्य इति ग्रन्थस्योपक्रमे स्फुटमेव[१]। अथ चैते ग्रन्थाः कम्पाराजसूनोः 'सङ्गमनरेन्द्रस्य' राज्यकाले विरचिता बभूवुरिति तत्तद्ग्रन्थपुष्पिकाभ्यो ध्रुवमवगम्यते।

५. **पुरुषार्थसुधानिधिः**—पुरुषार्थोपयोगिनां पुराणस्थानां व्यासवाक्यानां सुललितोऽयं संग्रहो बुक्कमहीपतेर्निर्देशमनुसृत्य सायणाचार्येण विरचितः।

६. **वेदभाष्याणि।**

सायणनिर्मितानां संहितापञ्चकभाष्याणां पौर्वापर्यम्

सायणः कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताध्यायी ब्राह्मणो बभूव। अतः स्वीयत्वादतिपरिचितत्वाच्च तैत्तिरीयसंहितायाः प्रथमं व्याख्यानं युज्यत एव। अन्योऽपि ऋग्वेदस्य 'यज्ञस्य मात्रं विमिमीत उत्व' इति मन्त्रेण, 'यजुर्यजते' इति यास्ककृतनिर्वचनेन च अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वं द्योत्यते। एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशास्त्ररूपौ आवयौ इतरेण वेद्येन पूर्येते। इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमं व्याख्यानं युक्तम्।

यजुर्वेदोऽपि कृष्णशुक्लभेदेन द्विविधः। तत्तु कृष्णयजुर्वेदस्य बह्वीष्वपि शाखासु तैत्तिरीयैव शाखा स्वीया ग्रन्थाकाराभूत्। अतः स्वकीयत्वेन तस्याः प्रथमतो विरचितं सायणेन व्याख्यानमिति। अस्या अनन्तरं ऋग्वेदस्य व्याख्यानं विहितम्। ऋग्व्याख्यानात्परं तदाश्रितं सामवेदं व्याकरोत् सायणः। सामवेदभाष्यादनन्तरं काण्वसंहिताऽनुक्रमेण व्याख्याता, तदनन्तरं कृष्णयजुर्वेदो व्याख्यातः। शुक्लयजुर्वेदस्य समसमयतो व्याख्यानसमयः। तस्य संहिताद्वयी विलसति—

१. एका माध्यन्दिनसंहिता।

२. अपरा काण्वसंहिता।

माध्यन्दिनसंहितां तु सायणाद् वर्षशतत्रयं प्रागेव भोजे राज्यं प्रशासति आनन्दपुरवास्तव्यो वेदार्थविवृतिविचक्षण आचार्य उव्वटो निपुणं व्यकार्षीत्।

अथर्ववेदभाष्यस्य तु सर्वेषां संहिताभाष्याणां समवसाने निर्मितिर्विहिता ग्रन्थकर्त्रेति सायणस्य वचनमिदम्—

---

१. तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते।। (धातुवृत्ति-प्रारम्भ. ९)

मन्मूलभूतमालोच्य वेदमाथर्वणाभिधम्।
आदिशत् सायणाचार्यस्तदर्थस्य प्रकाशने[1]॥

ब्राह्मणानां भाष्याणि

न खलु संहिताभाष्याण्येव केवलानि विरचितानि, अपि तु वेदार्थप्रतिपादनपरेण श्रीमता सायणाचार्येण यावद् ब्राह्मणानां केषाञ्चित् प्रसिद्धानां व्याख्यानान्यपि निबद्धानि। तत्र क्रमेण तैत्तिरीयसंहिताव्याख्यानावसाने तत्सम्बद्धं तैत्तिरीयब्राह्मणं तैत्तिरीयमारण्यकं च व्याख्यातवान्। ऋग्वेदव्याख्यानात् पूर्वमेवानयोर्व्याख्यानमरीरचदित्यस्माभिरनुमीयते। ऋग्वेदभाष्यानन्तरमेव तदीयं ब्राह्मणमैतरेयं ग्रन्थकृद् विवृतवान्। तथा च सामभाष्यात् परं क्रमौचित्यात् तदीयानां सर्वेषामेव ब्राह्मणानां प्राप्तावसरतया व्याख्यानं निरमिमीत माधवानुजः सायणः।

अष्टौ ब्राह्मणाः सामवेदस्येति विदितचरमेव वैदिकानाम्। तेषु अष्टमस्य ब्राह्मणस्य वंशाख्यस्य व्याख्यानोपक्रमे वेदत्रयभाष्याऽऽनन्तर्यं तेषां ग्रन्थकृदेव स्वीयैरक्षरैः प्रतिपादयति[2] सामब्राह्मणेष्वपि। व्याख्याक्रमस्तत्र क्रमशः १. ताण्ड्यब्राह्मणम्, २. षड्विंशम्, ३. सामविधानम्, ४. आर्षेयम्, ५. देवताध्यायम्, ६. उपनिषदाख्यम्, ७. संहितोपनिषद्, ८. वंशब्राह्मणम्, इत्यष्टौ ब्राह्मणानां व्याख्यानं जगतामुपकाराय विरचितम्।

सर्वाण्येवैतानि व्याख्यानानि बुक्कमहीपतौ शासति महीं सायणाचार्येण निर्मितिविषयं नीतानीति तत्तत्पुष्पिकाभ्यः स्फुटमेव प्रतीयते।

७. आयुर्वेदसुधानिधिः

आयुर्वेदसिद्धान्तनिदर्शनपरो ग्रन्थ एषोऽलङ्कारसुधानिधावपि नाम्ना निर्दिष्टो वर्तते।

८. अन्ते प्रस्तुतोऽयं **यज्ञतन्त्रसुधानिधिः**—

यागानुष्ठानविधिरस्य ग्रन्थस्य विषयः। एष सायणाचार्यस्य रचनासु चरमो ग्रन्थ इत्यनुमीयते। अस्य रचना हरिहरद्वितीयमहाराजाधिराजस्य शासनसमये सञ्जातेति तत्पुष्पिकातो विद्वद्भिरुन्नेयम्। तत्पुष्पिका—"इति श्रीमद्राजाधिराज-

---

१. अथर्ववेदे, संहिताभाष्यभूमिका - ८।

२. व्याख्याता ऋग्यजुर्वेदौ सामवेदोऽपि संहिता।
व्याख्याता ब्राह्मणस्याथ व्याख्यानं सम्प्रवर्तते।। (ऋग्भाष्यभूमिका-७)

परमेश्वरहरिहरमहाराजस्य सकलसाम्राज्यधुरन्धरस्य वैदिकमार्गस्थापनाचार्यस्य सायणाचार्यस्य कृतौ यज्ञतन्त्रसुधानिधौ अग्निहोत्रहोमप्रकरणं समाप्तम्''।

सायणनिर्मितानां बहूनां ग्रन्थानां पुष्पिकासु ग्रन्थाभिधानेभ्यः प्राक् 'माधवीयेति' पदं समुपन्यस्तं समुपलभ्यते। तथा च सायणरचिता धातुवृत्तिर्माधवीयेत्याख्यया तत्पुस्तकेऽपि व्याहृता सर्वत्र विख्याता च दृश्यते। वेदार्थप्रकाशाभिधानम् ऋग्वेद-संहिताभाष्यमपि माधवीयेति नाम्ना व्यपदिष्टमुपलभ्यते प्रत्यध्यायं पुष्पिकायाम्[१]।

को नु खलु हेतुरस्य स्यात्? सायणेन विरचितानां ग्रन्थानां माधवीयेति समाख्या सर्वत्र प्रचारे किं ग्रन्थकाराभिमतं समुचितं कारणं भवेत्? माधवेनैव विरचिता इमे ग्रन्था इति केचित्। माधवसायणाभ्यामपि विरचिता इत्यन्ये।

परन्तु अनुपपत्तिहेतोर्नास्ति कस्मिन्नपि मते बद्धमूलाऽऽस्थाऽस्माकम्। तदा किमत्र उपपन्नं कारणं भविष्यति? वस्तुतस्तु सायणाचार्य एवैषां कर्ता इत्यत्र नास्ति कोऽपि सन्देहलेशस्तत्तद्ग्रन्थस्यारम्भावसानपरीक्षकाणां विदुषाम्। माधवेन प्रोत्साहित एव सायणो ग्रन्थानिमान् अरीरचत्।

बुक्कमहीपतिना माधवाचार्य एव वेदभाष्याणामन्येषां च ग्रन्थानां निर्मित्यर्थं प्रार्थित आसीत्; परन्तु माधवो नैव तत्प्रार्थनामुररीचकार। वेदभाष्यरचनायै प्रार्थितो माधवो राजानं प्रत्यभाषत—कृतीनामाद्यो ममानुजः सायणाचार्यो निखिलं शास्त्राणामर्थं वेत्ति, सर्वं जानाति। अतस्तमेव वेदानां व्याख्यातृत्वे नियोजयतु भवान्।

माधवेनैव प्रत्युक्तो महीपतिः सायणाचार्यं वेदानां व्याख्याने नियुक्तवान्। अतो ग्रन्थानाममीषां रचनायां माधव एव परमो हेतुः, तस्य प्रोत्साहनमेव आद्यं कारणम्। अतस्तदुपकारभाराक्रान्तहृदय इमान् ग्रन्थान् माधवीयेति नाम्ना व्यपदिदेश सायणाचार्यः।

अस्मिन्ग्रन्थे श्रौतयागानां विशदं विधिविवेचनं प्रयोगक्रमं च समुपलभ्यते। पाण्डुलिपेः विषयवस्तु नानाश्रौतसूत्रग्रन्थसम्मतं संगृहीतमस्ति। ग्रन्थस्य प्रारम्भे द्वाविंशच्छन्दोभिर्ग्रन्थकृता ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यं च विहितम्।

ग्रन्थस्य विषयवस्तु—१. अग्नीनाधास्यमानः, २. सर्वदुरितपूर्वपापक्षय-

---

१. इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वर-वैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः।

कामः, ३. सर्वप्रायश्चित्तरूपः कूष्माण्डहोमप्रयोगक्रमः, ४. कर्माङ्गभूतप्रयोगः, गणहोमः, ५. अग्न्याधानक्रमविधिः, ६. अग्न्याधेयनक्षत्रनिर्णयः, ७. पशुचातुर्मास्याद्यनुष्ठानम्, ८. तस्य प्रयोगक्रमः, ९. वरदाने नक्षत्रनिर्णयक्रमः, १०. आकूर्वत्यावेदनम्, ११. ऋत्विग्वरणम्, १२. ब्रह्माध्वर्युवरणम्, १३. होतृवरणम्, १४. अग्निवरणम्, १५. चतुर्विधो मधुपर्कः, १६. अग्न्यायतनम्, १७. वेदिमानक्रमः, १८. त्रिःप्रकाराः स्रुचः, १९. अरण्याहरणविधिः, २०. गोपितृयज्ञः, २१. कलियुगे गवालम्भनाभावाद्दोहनपक्षनिर्णयः, २२. अभ्यञ्जनम्, २३. यज्ञे पुत्रयाचना, २४. राष्ट्रभृतयागः, २५. अमात्यहोमः, २६. सर्वौषधिहोमार्थमधिवृक्षः, २७. निरुक्तानभिमृशनक्रमः, २८. उद्गातृवाक्यम्, २९. पवमानेष्टिः, ३०. अग्निहोत्रप्रयोगक्रमः, ३१. अभिदेवत्या प्रथमेष्टिः, ३२. अन्ते अग्निहोत्रहोमद्रव्यनिरूपणम्।

श्रीमत्सायणाचार्यस्य जीवनवृत्तम्

'यज्ञतन्त्रसुधानिधिः' तथा वेदभाष्यप्रणेतुः श्रीसायणाचार्यस्य जीवनवृत्तान्तमधिकृत्य किमपि विचारयामः। सायणस्य जनको मायनो नाम जननी च श्रीमतीनाम्नी। गोत्रेण स भारद्वाजो बभूव। कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयशाखा बोधायनसूत्रं च तस्य स्वीये आस्ताम्। तस्य द्वौ भ्रातरौ वेदशास्त्रज्ञानसम्पन्नौ। तयोर्ज्यायान् माधवाचार्यो विजयनगरसाम्राज्यसंस्थापकानां महाराजाधिराजहरिहराणामासीद् मन्त्रिमूर्धन्यो विपश्चिदपश्चिमश्च। सायणाचार्येण स्वनिर्मितानां ग्रन्थानामादौ स्ववंशपरिचयं स्वयमेव प्रदर्शितमिति नितरामस्माकं प्रमोदस्थानम्।

अखिलेऽस्मिन् भारते वर्षे नास्त्येव तादृक् कश्चन वेदशास्त्रसम्पन्नो विपश्चिद् येन नाधुनापि श्रुतिगोचरीकृतं श्रीमतां सायणाचार्याणां नाम। श्रीमता सायणाचार्येण विरचितं निखिलमपि सरहस्यं श्रुत्यर्थजातं प्रदीपा इव जगत् प्रकाशयन्ति।

तस्या(यस्या)भूदन्वयगुरुस्तत्र सिद्धान्तदेशतः।
सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः[१]॥७॥

उपेन्द्रस्येव यस्यासीदिन्द्रः सुमनसां प्रियः।
महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यसहोदरः॥८॥

---

१. यज्ञतन्त्रसुधानिधौ मङ्गलाचरणश्लोकः।

अधीताः सकला वेदास्ते दृष्टार्थगौरवाः।
तत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रथीयसा[1]॥१४॥

सायणाचार्यस्य गुरवः

सायणाचार्येण तद्भ्रातृभ्यां च विरचितानां ग्रन्थानां परिशीलनतो ज्ञायते यत्तेषां त्रयो गुरवोऽभूवन्—१. प्रथमो विद्यातीर्थः, २. द्वितीयो भारतीतीर्थः, ३. तृतीयः श्रीकण्ठः। एतेषु विद्यातीर्थो महान् तपस्सम्पत्तिसम्पन्नो यतिराजः 'रुद्रप्रश्नभाष्य'-प्रणेता परमात्मतीर्थानां शिष्यश्च बभूव। विद्यावैभवप्रभावेण विद्यातीर्थं महेश्वरस्यावतारत्वेन वर्णयति श्रीसायणाचार्यः सर्वेषां वेदभाष्याणामुपक्रमे—

यस्य निःश्वसिता वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

सायणस्य आविर्भावसमयः

श्रीसायणाचार्यः चतुर्णां विजयनगराधीशानां साम्राज्येऽतिगौरवसम्पन्नं महामन्त्रिपदमभजत। तेषु प्रथमो बुक्कमहीपतिरासीत्। स खलु विजयनगरस्य प्रथमाधिपतेर्महाराजाधिराजश्रीहरिहरस्य भ्राताऽभवत्। नरपतौ तत्सुतस्य सङ्गमनरेन्द्रस्य प्रधानामात्यपदं स्वीचकार श्रीसायणः। (द्वितीय)सङ्गमनरेन्द्रोऽयं बाल्यकालादेव सायणाचार्यस्य शिष्यो बभूव। (तृतीय)सायणस्य वार्धक्ये समुपागते सति स हरिहर(द्वितीय)महाराजाधिराजस्य साम्राज्यधुरमभवदिति तद्ग्रन्थेभ्यः स्फुटमवभासते।

एतेषु निर्दिष्टेषु भूपतिषु बुक्कराजः प्रथमो विक्रमसंवत् १४०१ वर्षादारभ्य १४३६ यावद् विजयनगरसिंहासनमलञ्चकार। तत्सूनुर्हरिहरमहाराजश्च स्वपितुर्निधनानन्तरं साम्राज्यश्रियमलभत, अशिक्षच्च १४३६ वि.सं. वर्षपर्यन्तं विंशतिवर्षाणि यावत्।

अतो बुक्कहरिहरयोः प्रधानामात्यस्य श्रीमत्सायणाचार्यस्य आविर्भावसमयः पञ्चदशशतकस्य प्रथमार्द्धे समभवदिति। १४४४ वैक्रमे संवत्सरे (१३८७ ईशवीये) सायणाचार्यो दिवं जगामेति कापि जनश्रुतिः श्रूयते।

---

१. ते तपस्तेजसां राशिमासीनं परमात्मने।
सर्वज्ञं सायणाचार्यं पर्यपृच्छन्सभासदः॥१४॥ —यज्ञतन्त्रसुधानिधौ मङ्गलाचरणश्लोकः।

भूमिका

यज्ञ-तन्त्रम्

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(पुरुषसूक्तम्)

१. 'प्रजापतिर्यज्ञः' (शत.ब्रा. १.१.१.३)
२. 'यज्ञो वै विष्णुः' (शत.ब्रा. १.१.२.१३)
३. 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' (शत.ब्रा. १.१.४.१)
४. 'पुरुषो वै यज्ञः' (शत.ब्रा. १.३.५.१)
५. 'यज्ञेन वै देवा इमां चितिं जिग्युः' (शत.ब्रा. १.६.१.१)
६. 'यज्ञो वै देवानामहः' (शत.ब्रा. १.७.३.२२)

इत्याद्यासु शतशः श्रुतिषु, 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' (मनु. ५.३९)

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'॥ (गीता ३.९-१०)

इत्याद्यासु बह्वीषु स्मृतिषु च यज्ञमहिमा सर्वत्रैवोद्वेलं गीयते।

यज्ञ एव हि मुख्यो धर्मः। स एव जगतामुत्पादको रक्षकश्चेत्यर्थशास्त्रेषु पदे पदे गीतम्। अयं यज्ञ एव मनुष्याणां देवानां च परस्परसम्बन्धस्थापकः। तदुक्तं भगवता भगवद्गीतासु—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (३.११)

यज्ञेन मनुष्या देवान् भावयन्ति, भाविताः पूजिताश्च देवा मनुष्यानुपकुर्वन्तीति देवानां मनुष्याणां च पारस्परिकः सम्बन्धो वैदिकप्रक्रियायां व्याख्यातः।

अद्य विंशतितम्यां शताब्द्यां विज्ञानस्य प्रखरमध्याह्ने काले पाश्चात्त्या वैज्ञानिका लोकान्तरस्थैर्देवैः सह सम्बन्धस्थापनस्य विचारमेव कुर्वन्ति, न तु स विचारस्तेषां फलेग्रहिरद्यापि सम्पन्नः। भारतीयास्त्वार्या अनादिकालादेव यज्ञद्वारैव देवैः सम्बन्धं स्थापितवन्तः। यज्ञेन प्रसादिताश्च देवाः प्रत्यक्षमप्येतान् दर्शयाञ्चक्रिरे। महाभारतपुराणादिषु यज्ञदेवानां प्रत्यक्षदर्शनं बहुधा स्मर्यते।

'मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे।

आविक्षितस्य कामप्रेर्विश्वेदेवाः सभासदः'॥ (ऐ.ब्रा. ८.२१)

इति वैदिकीं सूक्तिमपि ब्राह्मणाः पूजासु पठन्ति। शङ्कराचार्योऽप्याह देवताधिकरणे **'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि'** (१.३.३३) इति सूत्रभाष्ये—**'भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्'**, तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मृतिः स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं योग्यता, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदपि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदना उपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायिशास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति—**'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'** (यो.सू. २.४४) इत्यादिरिति।

भवतु नाम, एवमार्यशास्त्रेषु सुविस्तृतो यज्ञमहिमा। तस्य वैज्ञानिकं स्वरूपमधिकृत्य संक्षेपेणात्र व्याख्यायते। यज्ञशब्दो हि यज्धातोर्निष्पन्नः। यज्धातोश्चार्थत्रयं भगवान् पाणिनिर्वक्ति—**'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'** इति। पूर्वस्मिन् व्याख्याने आध्यात्मिकाः, आधिभौतिकाः, तारामण्डलादिस्थिताश्च त्रिविधा देवाः सपरिकरं व्याख्याताः। तेषां सर्वेषामपि देवानां पूजा (पोषणं) यज्ञेनैव भवतीति देवपूजारूपोऽर्थोऽत्र सङ्गच्छते। अन्यस्य तत्त्वस्य तत्त्वान्तररूपता यज्ञेन संपाद्यते, मिथश्च पदार्थान् यज्ञ एव संगमयतीत्यग्रे व्याख्यातव्यम्। तस्मात् सङ्गतिकरणमप्यत्र सुसङ्गतम्। दानशब्देन च दाधातोर्निष्पन्नेन स्वस्वत्वनिवृत्तिः, 'दोऽवखण्डने' इति धातोर्निष्पन्नेन चावयुत्यात्मनोऽन्यत्र समर्पणमभिधीयते प्रवर्ग्यश्चेति तदेतदपि यज्ञपदार्थे सङ्गमनीयम्।

द्विविधो हि यज्ञः—प्राकृतः, कृत्रिमश्च। तत्र द्विजैरनुष्ठीयमानं कृत्रिमं यज्ञमेव प्राधान्येन लक्षयन्तो मीमांसकाः—**'द्रव्यदेवतात्यागो यागः'** इति तल्लक्षणमाहुः। देवतोद्देश्येन हविर्द्रव्यत्यागो यज्ञयागशब्दाभिधेय इति तात्पर्यम्। किमर्थमयं त्यागः

क्रियते, अनेन च देवानां कथं कीदृश उपयोगः साध्यते, किञ्च तेनास्माकं फलं भवतीत्येतत्सर्वं प्राकृतयज्ञविज्ञानेन शक्यं विज्ञातुम्। प्रकृतो हि निरन्तरं यज्ञः प्रवर्तते, तदाधारेणैव कथञ्चिदस्मत्प्रतिकूलमपि प्रकृतियज्ञमनुकूलयितुमस्मभ्यमपि यज्ञः शिक्षितः। तस्मात् प्रकृतो यज्ञ एव कृत्रिमस्य यज्ञस्य मूलम्।

शतपथब्राह्मण एकादशकाण्डस्य चतुर्थाध्यायारम्भे एकाख्यायिका श्रूयते, या कृत्रिमस्य यज्ञस्य प्राकृतयज्ञमूलकत्वं स्फुटीकरोति। कुरुपाञ्चालदेशवास्तव्य आरुणिरुद्दालको यज्ञे वृत उदीच्ये गतः। तस्यादरार्थं तत्र यजमानेन निष्क आहितः, तेन उदीच्या ब्राह्मणा ईर्ष्यां दधानाः स्वैदायनं नाम वेदनिष्णातं ब्राह्मणमग्रेसरीकृत्याऽऽरुणिना सह ब्रह्मोद्याय प्रेषयामासुः। तेन यज्ञे गत्वा गौतमगोत्र आरुणिरुद्दालक एवं पृष्टः—'स वै गौतमस्य पुत्रो वृतो जनं धावयेत्, यो १. दर्शपूर्णमासयोरष्टौ पुरस्तादाज्यभागान् विद्यात्, २. पञ्च मध्यतो हविर्भागान्, ३. षट् प्राजापत्यानष्टौ उपरिष्टादाज्यभागान्, ४. स वै गौतमस्य पुत्रो वृतो जनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद् यस्मादिमाः प्रजा अदन्तका जायन्ते, यस्मादासां जायन्ते यस्मादासां प्रभिद्यन्ते यस्मादासां संतिष्ठन्ते यस्मादासां पुनरुत्तमे वयसि सर्वा एव प्रभिद्यन्ते। यस्मादधर एवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरे, यस्मादणीयांस एवाधरे प्रथीयांस उत्तरे, यस्माद्दंष्ट्रा वर्षीयांसो यस्मात्समा एव जम्भ्याः।। ५. स वै गौतमस्य पुत्रो वृतो जनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद् यस्मादिमाः प्रजा लोमशा जायन्ते, यस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्योपपक्ष्याणि दुर्निवारणानि जायन्ते, यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवत्यथ पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति।। ६. स वै गौतमस्य पुत्रो वृतो जनं धावयेत्, यस्तद्दर्शपूर्णमासयोर्विद्याद् यस्मात् कुमारस्य रेतः सिक्तं न संभवति, यस्मादस्य मध्यमे वयसि संभवति, यस्मादस्य पुनरुत्तमे वयसि संभवति।। ७. यो गायत्रीं हारिणीं ज्योतिष्पक्षां यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहन्तीं विद्यादिति।। ८. (शत. ब्रा. ११.४.१.४-८)।

'एतान् प्रश्नान् समाधातुमसमर्थेनोद्दालकेन स निष्कः स्वैदायनस्याग्रे स्थापितः। त्वं मदपेक्षयाधिकं वेदज्ञोऽसि, त्वमेव निष्कमर्हसीति। स्वैदायनस्तमुपगुह्य गृहं गतः। यज्ञान्निवृत्तस्तु गौतम आरुणिः समित्पाणिः स्वैदायनमाससाद, यान् प्रश्नान् त्वपृच्छस्तेषामुत्तरं मह्यं शिक्षयेति च प्रार्थयाञ्चक्रे। ततः स्वैदायन एवमुत्तराण्याह—

'अथ यत्पुरोऽनुवाक्यकाः प्रयाजा भवन्ति, तस्मादिमाः प्रजा अदन्तका जायन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यवन्ति हवींषि भवन्ति, तस्मादासां जायन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यका अनुयाजा भवन्ति, तस्मादासां प्रभिद्यन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यवन्तः

पत्नीसंयाजा भवन्ति, तस्मादासां संतिष्ठन्तेऽथ यत्पुरोऽनुवाक्यकं सर्ष्टियजुर्भवति तस्मादासां पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव प्रभिद्यन्ते।।१२।।

अथ सदनुवाक्यामनूच्य याज्यया यजति तस्मादधर एवाग्रे जायन्तेऽथोत्तरेऽथ यद् गायत्रीमनूच्य त्रिष्टुभा यजति तस्मादणीयांस एवाधरे प्रथीयांस उत्तरेऽथ यत्प्राञ्चावाधारावाधारयति तस्माद्दंष्ट्रा वर्षीयांसोऽथ यत्सच्छन्दसावेव संयाज्ये भवतस्तस्मात्समा एव जम्भ्याः।।१३।। अथ यद् बर्हिस्तृणाति, तस्मादिमाः प्रजा लोमशा जायन्तेऽथ यत्पुनरिव प्रस्तरं स्तृणाति तस्मादासां पुनरिव श्मश्रूण्यौपपक्ष्याणि दुर्निवारणानि जायन्तेऽथ यत्केवलमेवाग्रे प्रस्तरमनुप्रहरति तस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवत्यथ यत्सर्वमेव बर्हिरनुप्रहरति तस्मात्पुनरुत्तमे वयसि सर्व एव पलितो भवति।।१४।। अथ यदाज्यहविषः प्रयाजा भवन्ति, तस्मात् कुमारस्य रेतः सिक्तं न संभवत्युदकमिवैव भवत्युदमिव ह्याज्यमथ यन्मध्ये यज्ञस्य दध्ना पुरोडाशेनेति चरन्ति तस्मादस्य मध्यमे वयसि संभवति द्रप्सीवैव भवति द्रप्सीव हि रेतोऽथ यदाज्यहविष एवानुयाजा भवन्ति, तस्मादस्य पुनरुत्तमे वयसि न संभवत्युदकमिवैव भवत्युदकमिव ह्याज्यम्।।१५।। वेदिरेव गायत्री, तस्मै येऽष्टौ पुनस्तदाज्यभागाः स दक्षिणः पक्षो येऽष्टौ उपरिष्टादाज्यभागाः स उत्तरः पक्षः सैषा गायत्री हारिणी ज्योतिष्पक्षा यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहति य एवमेतद्वेद।।१६।।

अनया तावदाख्यायिकया स्पष्टमिदं सिद्ध्यति यद् दर्शपौर्णमासमूलभूता अध्यात्मं याः क्रियाः, ता एव दन्तलोमाद्युत्पादिकास्तत्र परिवर्तनादिकारिण्यश्च भवन्तीति। ये तु दर्शपौर्णमासादिष्वनुष्ठीयमानाः क्रिया एव दन्तलोमाद्युत्पादिका इत्यागृह्णीरन् ते सर्वेषु प्राणिषु दन्तलोमाद्युत्पत्तिं तत्परिवर्तनानि च न समाधातुमीशते। येऽपि द्विजातिरिक्ता म्लेच्छाद्याश्च दर्शपौर्णमासादिकं नानुतिष्ठन्ति, तेषामपि दन्तलोमादिर्जायते परिवर्तते च। तस्मान्मूलभूतया प्राणादिक्रिययैवात्र तात्पर्यं नेयं स्यात्। अधिदैवं च या गायत्री सैव यजमानं स्वर्गे लोके प्रापयतीति च। तदित्थं मूलभूतं प्राकृतं यज्ञमेवावलम्ब्य कृत्रिमा यज्ञा वेदेषु विहिताः। ताश्च मूलभूताः प्राकृतयज्ञक्रिया अपि तत्तत्कर्मोपपादनार्थं ब्राह्मणेषु बहुत्र निर्दिष्टाः, परं ता अर्थवादरूपेण प्रख्याप्य मीमांसकैरुपेक्षिता इत्येव कर्मोपपत्तिविषये आन्ध्यं प्रसृतम्। भवतु नाम, अस्माभिरत्र स प्राकृतो यज्ञ एव संक्षेपेण व्याख्यातव्यो यदाधारेण यज्ञानुष्ठानानि प्रवृत्तानीति।

पूर्वं स्थूलतयाऽग्नौ सोमाहुतिरेव यज्ञ इति भावनीयं स्यात्। **'अग्नीषोमात्मकं हीदं जगत्'**। तत्राग्निरन्नादः, सोमस्त्वन्नम्। द्विविधा हि लोके भवन्ति पदार्थाः—ऋतरूपाः, सत्यरूपाश्च। यद्धि केन्द्रबद्धं न तिष्ठति प्रत्युत

विकीर्णभावेन प्रसरति, तद् ऋतमित्युच्यते। यथा वायुरापः सोम इत्येकस्यैव तत्त्वस्येमास्तिस्रोऽवस्था—स्थूलावस्था आपः, तासां सूक्ष्मावस्था वायुः, तदपेक्षयापि सूक्ष्मतमावस्था सोमः। सोऽयं सोमः सर्वत्राकाशेऽभिव्याप्तः। यथोक्तं सोमस्तुतिमन्त्रे—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वासूत्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्योर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥

(ऋ.स. १.९१.२२)

यवतण्डुलाद्या ओषधीः सोम एवोत्पादयति, आपो गावश्च सोमेनैव जनिताः, ओषधीष्वप्सु गव्येषु च दुग्धादिषु सोमः प्राचुर्येणाभिव्याप्नोतीति तद्भावः। सोम एव चान्तरिक्षं विस्तीर्णं करोति। सर्वत्र विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे सोम एवाभिव्याप्त इति तात्पर्यम्। सूर्यरश्मिसम्पर्केण सोम एव प्रज्वलितो ज्योतीरूपतामासाद्य तमो निवर्तयतीति। लोकेऽपि हि घृततैलादिस्थितः सोम एवाग्निसम्पर्काद् दीपादिषु ज्योतीरूपतामासाद्य तमो निवर्तयतीति दृश्यते, तथैव सूर्यरश्मिसम्पर्कादन्तरिक्षे सोमः प्रज्वलतीति पूर्वस्मिन् व्याख्यान उक्तम्। सोऽयं सोमः सर्वस्मिन्नन्तरिक्षे ऋतरूपेण स्थितः। शतपथब्राह्मणेऽप्युक्तम्—**'अन्नाद् एवाग्निरभवदन्नं सोमोऽन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च'**। (११.१.६.१९) इति।

अग्निस्तु केन्द्राधारेण तिष्ठतीति स सत्यः। अग्निरयं विकसनशीलः केन्द्राद् बहिरभितो विकसन्नभिव्याप्नोति। सोमस्तु संकोचशीलोऽभितः संकुचन्नग्नौ पतति, सेयमेव सोमस्याग्नावाहुतिः। हूयमानश्चाग्नौ सोमोऽग्निरूपतामेव गच्छति। तदिदं रूपान्तरताप्रापणमेव सङ्गतिकरणं यज्धातोरर्थ उक्तः। अग्निरूपतामापद्य विकासशीलत्वात् पुनर्बहिर्गच्छति। दूरं प्रसरंश्च केन्द्रसम्बन्धं परित्यजन् पुनः सोमरूपतामापद्यत इत्यग्नीषोमयोरन्योन्यरूपतापत्तिरूपं चक्रमनवरतं प्रवर्तते। सोऽयं प्राकृतो यज्ञः।

सूर्यो ह्यनवरतं प्रकाशमौष्ण्यं चोद्वमन् सर्वत्र संक्रामयतीति वैज्ञानिका अपि प्रतिपादयन्ति। तत्परिमाणमपि चानन्तकोटिमितं ते व्याचक्षते। परमियं प्रतिक्षणं जायमाना सूर्यमण्डलक्षतिः कथं सम्पूर्यत इति नैतदद्यावधि तैर्निश्चेतुं पारितम्। वैदिकं विज्ञानं त्वनादिकालादेतन्निश्चिकाय यत् सूर्यमण्डलं स्वर्लोकः, तदुपरि महोऽन्तरिक्षं तदुपरि च जनलोक एव सोमलोकः, तस्मादनवरतमनन्तकोटिगुणितः सोमः प्रतिक्षणं सूर्यमण्डल आहूयते। तमेतं च सोममग्निरूपतामापाद्य सूर्यो लोकमभितः प्रसारयति। इयमेवानवरतं जायमाना सोमाहुतिः **'आहुत्याप्यायते**

सूर्यः' इत्यादिना मन्वादिभिः स्मृतिषु संकेतिता। ब्राह्मणाद्या अप्यग्नौ यद् घृतादि जुह्वति, तदन्तर्गतोऽपि सोमः सूर्यमण्डलं गच्छतीति तद्रीत्या व्याख्यानमपि युज्यते, परमत्यल्पः स न सूर्यमण्डलक्षतिं पूरयितुमीष्ट इति प्राकृतेन यज्ञेनैव सा क्षतिः पूर्यते। यथा प्रतीपे ज्योतीरूपतामापद्य क्षीयमाणं तैलं पुनरस्माभिस्तत्र निषिच्यते, यथा वा विद्युत्प्रकाशे प्रतिक्षणं क्षीयमाणा शक्तिर्विद्युत्कोषगृहादागत्य तां क्षतिं प्रपूरयति, तथैव सूर्येऽपि प्रतिक्षणमौष्ण्यप्रकाशोद्गमनाज्जायमाना क्षतिरनवरतमागच्छता तेन सोमेनैव प्रपूर्यते। सूर्याच्चाभितो दिक्षु प्रचारित औष्ण्यप्रकाशमूलभूतोऽग्निः सूर्यमण्डलशक्तेरभिव्याप्तितो बहिर्गतः पुनः सोमरूपतामापद्यत इति चक्रं वैदिकेन विज्ञानेन साध्यते। अनेनैव च चक्रेण जगंति सर्वेषां पदार्थानामुत्पत्तिः स्थितिश्चेति यज्ञस्यैव सर्वोत्पादकत्वं सर्वार्थकरत्वं च श्रुतिस्मृतिषु सर्वत्र विव्रियते।

लोकेऽपि च प्रातिस्विकपदार्थोत्पत्तिस्थितिं चाग्नौ सोमाहुतिरूपेण यज्ञेनैव पश्यामः। तथा हि—ओषधिलतावृक्षाद्येव पूर्वं परीक्ष्यताम्। पृथिव्यां ह्यग्निर्व्याप्य तिष्ठतीति **'यथाग्निगर्भा पृथिवी, यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** (बृहदा. ८.४.२३) इत्यादिश्रुतिषु, **'अग्निः पृथिवीस्थानः'** इत्यादौ निरुक्ते च विवृतम्। सोऽयमग्निः पार्थिवेन धनभागेनावृतस्तिष्ठतीति तस्याग्नेरावरणमपनीय प्रकटनाय कर्षकैर्भूमिर्हलेन कृष्यते। आवरणमपनीयाभ्यन्तरस्थाग्नेः प्रकटीकरणायैव कर्षणं प्रवर्तते, प्रकटिते चाग्नौ बीजरूपो जलरूपश्च सोम आहूयते। आहुतिं प्राप्य चाग्निर्बीजस्थितमावरणमपनीय स्वसंयोगेन बीजमङ्कुररूपतां गमयतीत्यङ्कुरोत्पत्तिरूपः प्रथमो यज्ञः। इदानीं सौरोऽग्निस्तमङ्कुरं स्वाभिमुखमाकर्षतीत्यङ्कुरः प्रवर्द्धते। पार्थिवः सोऽङ्कुरः पृथिव्या आकर्षणेन पृथिवीमपि न त्यजतीति स्वस्थानावस्थितस्यैव तस्योपरि गमनं भवति, सेयमेव वृद्धिरित्युच्यते। यावच्च जलं तत्र दीयते, तावत्येव तस्याधिकाधिका वृद्धिर्भवति। जलस्थितस्य सोमस्यैव सौराग्नेरन्नरूपत्वात् **'सोमोऽन्नम्, अग्निरन्नादः'** इत्युक्तपूर्वम्। तदेषोऽग्निना वृक्षादिवृद्धिप्रकारः श्रुतावाम्नातः—

प्रमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः॥

(ऋ.सं. १०.७९.३)

मातुः पृथिव्याः, उर्वीः वीरुधः विस्तृतासु लताद्यासु, गुह्यं प्रतरं गुह्यमुत्कृष्टतमं केन्द्रस्थानम्, अग्निः इच्छन् कुमार इव प्रसर्पति। स च पक्वं शुष्कं

वृक्षमपि अभिव्याप्नोति रिरिह्वांसं रसं गृह्णानमपि अभिव्याप्नोति। अग्निनैव हेतुना रसग्रहणादिकं सर्वं सम्पद्यते। अत एवाग्निर्यज्ञस्य देव उच्यते—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।। इति। (ऋ.सं. १.१.१.)

ऐतरेयब्राह्मणेऽप्युक्तम्—

'अग्निर्वै शर्माण्यन्नादीनि प्रयच्छति' (ऐत. २.५.९) इति। अन्येष्वपि मन्त्रेष्वोषध्यादिकेन्द्रेऽग्निस्थितिः स्पष्टमाम्नाता—

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्नेर्गर्भा अपामसि।। (यजु. १२.३७)

ऋक्संहितायामपि चैतद् विस्तृतम्—

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्यातां गर्भश्चरथाम्।

अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः।।

(ऋ.सं. १.७०.२)

अनयाऽग्निव्याप्त्याऽग्निसाध्यो यज्ञः सर्वत्रैव प्रवर्तत इति सङ्केतितम्। पृथिवीयं कृष्णेत्युच्यते, सौरोऽग्निश्च हिरण्यवर्णः। तदुक्तम्—**'पिशङ्गं द्रापि प्रतिमुञ्चते कविः'** (ऋ.सं. ४.५३.२) इति।

पीतकृष्णोभयसंयोगादङ्कुरे हरितो वर्ण एव सर्वदा जायते। यदा तु यमेन विच्छेदात् पृथिव्या रसग्रहणं न जायते, अर्थादग्नौ सोमाहुतिः प्रतिरुद्ध्यते, तदा शुष्के वृक्षे पर्णादिकं सर्वं पीतवर्णतामेवापद्यत इति स्पष्टं दृश्यते। वृक्षादिषु च शाखा-प्रशाखा-पर्णपुष्पादिकं सर्वं सौराग्नेः पार्थिवाग्नेश्च सोमाहुतिसम्पर्काद् यज्ञाज्जायत इति भाव्यम्। तदिदं यज्ञस्योत्पादकत्वं पालकत्वं च प्रत्यक्षं निरीक्ष्यते। प्राणिनामुत्पत्तावपि स्त्रिया गर्भाशयगतेऽग्नौ रेतोरूपः सोम आहूयत इति तत एव कललोत्पत्तिः, गर्भाशयगतेऽग्नावन्नपानादिस्थसोमाहुत्या च तदभिवृद्धिर्भवतीति सर्व एव शरीरविदो व्याचक्षते। तदेतदग्रे व्याख्येयम् । अस्माकं शरीरमपि च प्राणाग्निहोत्ररूपेण यज्ञेनैव परिपालितं तिष्ठति—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।। (गीता—१५.४)

इत्युक्तो वैश्वानरोऽग्निः सर्वेषां जठरे स्थितः। तत्र हूयमानश्चान्नपानादिगतः सोमोऽनवरतं रसासृङ्मांसादिरूपमापद्य देहं रक्षतीति, सर्वेषां नः प्रत्यक्षसिद्धम्।

भुक्तमन्नादि वैश्वानरेण वह्निना रसरूपतां नीयते, असृक् च मांसरूपेण, मांसं मेदोरूपेण, अस्थि मज्जारूपेण, मज्जा च शुक्ररूपेण परिणमतीति सप्तधातून् आयुर्वेदविद आचक्षते। शुक्रं पतत्युत्पादने शारीरबलप्रयोगे च कारणतां गच्छति, रक्षितं त्वोजोरूपेण, ओजश्च मनोरूपेण परिणमतीति **'अन्नमयं हि सोम्य मनः'** (६.५.४) इत्यादि छान्दोग्यश्रुतौ विवृतम्। मनश्च सोमरूपं सोमसमष्टिरूपे चन्द्रमण्डलेऽनवरतं गच्छति। ततश्च पुनरोषध्यादिषु सोमः संक्राम्यतीत्येतदेव चक्रम्। एवमनवरतं नवनवोत्पत्तिः पुरातनानां जीर्णानां रूपान्तरतापत्तिश्चेति चक्रं सर्वेषु पदार्थेष्वनुस्यूतं भाव्यमिति स एव प्राकृतो यज्ञः।

अशनपानादिक्रियाया यज्ञरूपता, तत्र यज्ञाङ्गानां समन्वयश्चापि छान्दोग्यश्रुतौ समाम्नातः—

'स यदशिशिषति, यत्पिपासति, यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः।

अथ यदश्नाति, यत्पिबति, यद्रमते, तदुपसदैरेति'॥ इत्यादि।

(३.१७.१-२)

एवंविधविज्ञानेनैव घोराङ्गिरसोपदिष्टेन देवकीपुत्रः कृष्णोऽपिपासो बभूवेत्यपि तत्रोक्तम्।

इयमग्नौ सोमाहुतिप्रक्रिया शिवशक्त्युपासनायामप्यनुकृता दृश्यते। शवरूपस्य शिवस्य हृदि विराजमाना आद्याशक्तिः सर्वैः शाक्तैर्ध्येयरूपतां नीयते, मूर्त्तिष्वपि च तदाकारा पूज्यते। तस्य मुख्य आशयोऽयं यद्ब्रह्मरूपस्य शिवस्य मध्यभागे केन्द्रे शक्तिरनवरतं विराजते। शक्तिविहीनः शिवः कदापि न भवतीति। इदमपि यज्ञरूपमग्रे व्याख्यातव्यम्। अयमपि त्ववान्तरः स्थूल आशयो यदग्निः शिवः, तदुपरि मध्यभागे केन्द्रेऽनवरतं शक्तिरूपः सोम आगच्छति। उपर्यन्तरिक्षे सर्वत्र सोमो व्याप्तः, स च संघीभूयाग्नौ निपततीत्युक्तं प्राक्। इदमेव मूर्तिरूपेणोपासकानां सिद्ध्यर्थं ध्याने स्थाप्यते। सोमोऽयं स्वतः कृष्णवर्ण इति शक्तिरपि कृष्णवर्णैव ध्यायते। अग्निरूपः शिवस्तु उज्ज्वलः स्थिरः स्थाप्यते। उः = प्राणः शिवः, तस्य मा = शक्तिरित्युमापदेनैव शक्तिरुच्यते। उमया सहितः, अर्थाच्छक्तिविशिष्टः सोमो भवतीत्याद्यपि भाव्यम्। तदेतत् सर्वं बृहज्जाबालोपनिषदि सुस्पष्टमाम्नातं द्वितीये ब्राह्मणे—'अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी तनूः। सोमशक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी॥१॥
द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानिलात्मिका॥२॥
अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते।
अत एव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत्॥३॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोमोऽधोशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत्॥४॥
अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम्।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः॥५॥
अत एव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात् पावनं भवेत्॥६॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः॥७॥
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन॥८॥

इत्यादि जगति सर्वेष्वेव जडचेतनात्मकेषु पदार्थेषु गत्यगती प्रवर्तेते। सर्वत्र व्याप्तो ह्यग्निः प्राणो भूतसहकृतः स्वभावेन प्रतिक्षणं निष्क्राम्यति। तेन जाता क्षतिश्चापरत आगतेन सोमेनाग्निरूपतामाप्तेन प्रपूर्यत इति सर्वेषामेव पदार्थानां जीवनं यज्ञायत्तम्। यत्रागतिरधिका, गतिश्चाल्पा तत्पुष्टीभवति। यत्र तु गतिरधिका, अगतिश्च यमेन विच्छिन्नतयाल्पा तज्जीर्णं भूत्वा विनश्यतीति भावविकारविवरणे निरुक्तादिषु स्पष्टीकृतम्। इमामेव प्राकृतिकीं प्रक्रियामालम्ब्य कृत्रिमा यज्ञा विहिताः। अनुष्ठीयमानेषु यज्ञेष्वप्यग्नौ सोम आहूयते। सोमयागनाम्ना प्रसिद्धेषु महत्सु यज्ञेषु लतारूपः सोम एव कण्डनेन रसतामापाद्य हूयते। इष्ट्यादिषु यत्र सोमाहुतिर्न भवति, तत्रापि येषु द्रव्येषु सोमस्य प्राधान्यं तान्येव गव्यघृतदुग्धादीनि तण्डुलादीनि च हूयन्ते। यथा च सोमाहुत्यैवाधिदैवतं दिनमासवर्षादिकालपरिच्छेदः, तथैव कृत्रिमेषु यज्ञेष्वपि प्रत्यहं सायं प्रातः सन्धिकालेऽग्निहोत्रम्, माससन्धौ च दर्शपौर्णमासौ, ऋतुसन्धौ च चातुर्मास्यादीनीति सर्वेयं प्राकृतयज्ञानुकृतिः।

सोमयागेष्वप्येकाद्यहीनरात्रिसत्रायनसत्रादिभेदाः प्रकृत्यनुकृत्यैव प्रवर्तन्ते।

'अयं वै लोको गार्हपत्यः'। (शत. ७.१.१.६)

'संवत्सरोऽग्निः'। (शत. ९.३.३.१२)

इत्याद्यासु श्रुतिषु लोकत्रयंरूपता च गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां प्रतिपादिता। तेन यथा लोकत्रयाधिष्ठितेष्वग्निषु सोमः प्रकृत्या हूयते, तथैवात्राप्यग्नित्रये सोमो हूयत इत्यनुकृतिः प्रदर्शिता।

तदित्थं सूर्येऽधिदैवतम्, प्राणिशरीरेष्वध्यात्मम्, सर्वेषु पदार्थेष्वधिभूतं जगति प्रवर्तमानाऽग्नौ सोमाहुतिरूपा स्थूला यज्ञप्रक्रिया संक्षेपेण निदर्शिता।

इतः परं सूक्ष्मविचारे त्वग्नीषोमावपि यज्ञेनैवोत्पाद्येते, यज्ञेनैव च स्वस्वरूपेऽवतिष्ठेते। अन्यान्यपि च देवभूतादीनि तत्त्वानि यज्ञादेवोत्पद्यन्ते, तेनैव पाल्यन्ते चेत्याद्यपि श्रुतिभ्यः सिद्ध्यति। अग्नौ सोम आयाति, सोमं गृह्णन्नग्निश्च स्वात्मरूपतां प्रापयतीत्युक्तं प्राक्। अनयैव च दिशा सर्वेषु पदार्थेषु ये गत्यगती, या च देवानां भूतानां वा द्वयोः सम्बन्धेन रूपान्तरताप्राप्तिः, सा सर्वापि यज्ञपदेन तत्र तत्र श्रुतिषु व्याख्यायते। तथा हि पृथिव्युत्पत्तिस्तावदेवं व्याख्याता ब्राह्मणेषु (शत. ६.१.३.२-७)—आपः, फेनः, मृत्स्ना, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्यमित्यष्टाववस्थाः क्रमेणोद्भवन्ति। तासां समुदायश्च पृथिवीत्याख्यायते। प्रसृतास्वप्सु सूक्ष्मेऽवकाशे वायुः प्रविशति च निष्क्राम्यति चेति क्रियाऽनवरतं प्रवर्तते। यदा तु वायुनोत्थापितानामपां सूक्ष्मः स्तरो वायुमावृणोति, आवृतश्च वायुर्न निष्क्रमितुं प्रभवति, तदा बुद्बुदो जायते। क्षणानन्तरं जलस्तरं त्रोटयित्वा वायुर्निष्क्राम्यति बुद्बुदो विलीयते। परं यदा वायुनोत्थापितानामपां स्तरो घनीभवति, वायुवेगेन सहसा न त्रुट्यति, तदा वायोश्चापाञ्च चिरसंघर्षाद् द्वयोरपि स्वरूपं विलीयते। द्विसंसर्गजञ्च फेनरूपमाविर्भवति। सेयं द्वाभ्यामभिनवपदार्थोत्पत्तिरपि यज्ञ एव। एवं फेनेऽपि वाय्वादेस्तत्त्वान्तरस्य संघर्षाद् मृत्स्ना जायते, या 'पाक' इति नाम्ना लोकभाषायां व्यवह्रियते। एवमेव तत्रापि वायुसूर्यकिरणादितत्त्वान्तरसंघर्षात् सिकता, तदनन्तरं चाश्मा। तत्र सूर्यरश्म्यादिनिष्ठस्याग्नेः प्रभावातिशयादय आद्या धातवः, सर्वान्ते च सर्वतो गुरुभूतं हिरण्यं निष्पद्यते। ता एता अष्टाववस्थाः शतपथब्राह्मणेऽष्टाक्षररूपेण निरूपिताः। इयञ्चाष्टाक्षरा गायत्री चयनयज्ञप्रकरण एव व्याख्याता।

वस्तुतस्तु द्वयोः सम्बन्धरूपो यज्ञः सृष्टेरारम्भादेव प्रवृत्तः श्रुतिष्वाम्नातः। द्वयोः सम्बन्धे प्रधानः पुरुष इति, अग्निरिति च परिभाष्यते। अप्रधानस्तु योषेति

सोम इति च परिभाष्यते। अग्नीषोमयोर्यथाऽन्नादान्नरूपो वृषयोषारूपश्च सम्बन्धः, तथैव द्वयोः सम्बन्धे एकस्य वृषत्वमर्थात् पुरुषत्वम्, अपरस्य तु योषात्वं प्रकल्प्य तत्राप्यग्नित्वं च सोमत्वं चारोप्यते। तयोः सम्बन्धश्च यज्ञशब्देनैव व्यवह्रियत इति भाव्यम्। यथाऽनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकस्य जगत एकमेव मूलतत्त्वं सत्पदवाच्यमिति **'सदेव सोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य. ६.२.१) इत्याद्यासु श्रुतिषु समुद्घुष्टः सिद्धान्तः। अविकृतं विभु तत् सृष्टिं रचयितुं न शक्नोतीति तत्रैका शक्तिः स्वाभाविकी कल्प्यत इत्यपि **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (ऋ.सं. १०.१२९.२) इति मन्त्रे, **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'** (श्वेताश्वतरो. ६.८) इत्याद्युपनिषत्सु च श्रूयते। सोऽयं शक्तेर्ब्रह्मणश्च सम्बन्धः प्रथमो यज्ञः सर्वजगदुत्पादकः।

अथ शक्तिविशिष्टोऽयं प्रजापतिर्भवति। अस्मात् परब्रह्मणः परमेश्वराज्जीवाविर्भावोऽपि यज्ञप्रक्रियैव गुरुचरणैः श्रीविद्यावाचस्पतिमहाभागैर्गीताविज्ञानभाष्यस्याचार्यकाण्डे निरूपितः। व्यापकस्य प्रजापतिपदाभिधेयस्य महेश्वरस्यांशो योगमायायां प्रवर्ग्यभूत एव जीवो भवति। महतः कश्चिदंशो यदा तस्मात्पृथग्भूय पृथक् स्वीयं तन्त्रं प्रवर्तयति, स्वतन्त्र इव भवति, तदा ऋग्वेदपरिभाषायां प्रवर्ग्य इति, अथर्वपरिभाषायां चोच्छिष्ट इत्युच्यते। यथाऽग्नीषोमसूर्यकिरणैस्तापः प्रस्तरादिषु प्रवेश्यते, अस्तं गतेऽपि च सूर्ये प्रस्तरादिषु सोऽनुभूयत इति सूर्यात् केन्द्रादपवृक्तः स इत्यनुमीयत इत्यादि भाव्यम्। अयं महेश्वरस्य प्रवृक्तोंऽशो भूतात्मेत्युच्यते। प्रवृक्तं स्वतन्त्रं तं भूतात्मानं महानात्मा विज्ञानात्मा चाभिव्याप्य तिष्ठतः। तदुक्तं भगवता मनुना—

तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥ (मनु. १२.१४)

इमे पृथक् पृथगात्मान आत्मतत्त्वव्याख्याने पृथग् व्याख्यातव्याः। तदित्थं महतात्मनोत्पादितेभ्य इन्द्रियेभ्यः सम्पन्नतमोऽयं भूत्वा स्वस्य तन्त्रं पृथक् प्रवर्तयति, स एव जीवात्मोच्यते। स एष प्रजापतिर्यज्ञरूप एवाख्यातः, तदपवृक्तश्च भूतात्मापि यज्ञ एवोक्तः—**'यज्ञो वै प्रजापतिः'** (कौषी. ३.७), **'सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः'** (शत. १४.३.२.१) इति।

स एष यज्ञ एव जीवभावजनकस्तद्रक्षकश्च। जनकः प्रारम्भिकयज्ञ इत्युच्यते, रक्षकस्तूत्तरयज्ञ इति। प्रथमेनास्य शरीरेन्द्रियादिसम्बन्धो भवति, द्वितीयेन तु तत्पालनम्। उभयोरपि यज्ञयोः सप्ताहुतयो भवन्ति—शक्राहुतिः, श्रीलक्ष्या-

हुतिश्चेति। यावदेता आहुतयोऽविच्छिन्नाः प्रवर्तन्ते, तावदेव मनुष्यस्य जीवनम्। केनचित् प्रतिबन्धेन विच्छिन्नामु त्वाहुतिषु यज्ञविच्छेदः, जीवस्य तन्त्रोच्छेदरूपं मरणं च। स्वभावतश्चायं षट्त्रिंशत्सहस्राहः सत्रयज्ञ इति तद्रीत्या शतवर्षमितं मनुष्यजीवनम्। मध्य एव कारणतो यज्ञविच्छेदे त्वल्पायुष्ट्वमिति।

ता एता आहुतयो यजुर्वेदस्योत्तरनारायणसूक्तेन षडर्चेन व्याख्याताः। तत्र प्रथमा शुक्राहुतिः प्रथमेन मन्त्रेण व्याख्यायते—

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥

(३१.१७)

अत्र शुक्रः कथमुत्पद्यत इति तदीयं वैज्ञानिकं तत्त्वमाम्नातम्। अद्भ्यः, पृथिवीरसात्, विश्वकर्मरसाच्चेति त्रिभ्यो द्रव्येभ्यः समुदितेभ्यः सम्भूय शुक्रोत्पत्तिः। तत्र सोमो वायुः, आप इत्येकस्यैव द्रव्यस्य सूक्ष्मस्थूलताक्रमेण तिस्रोऽवस्था इत्युक्तम्। एभिस्त्रिभिः पूर्वं शुक्रः संभ्रियते, पञ्चभूतात्मिकायाः पृथिव्या रसेन च सम्मिलितः स्थितिमापद्यते। अनन्तरञ्च विश्कर्मणो रसादपि संभ्रियते पूर्णो भवति। लोकत्रयाधिष्ठातारस्त्रयो देवा अग्निवाय्वादित्या विश्वमेषां कर्मेति विश्वकर्माण उच्यन्ते। तेषां त्रयाणामपि रसोऽत्र सम्भृतो भवति। पूर्वोक्तो भूतात्मापि चैतन्यरूपेणात्र सन्निधत्त इति द्वादशरसेयं शक्राहुतिर्मन्त्रस्य पूर्वार्द्धेनोक्ता। देवानां भूतानां च समष्टिरूपमिदं शुक्रमिति फलितम्। अस्या आहुतेरग्रे किं भवतीत्युत्तरार्द्धेनोच्यते—तस्य सम्भृतस्य रसस्य शुक्रस्य त्वष्टा रूपं कल्पयति। कललबुद्बुदादिक्रमेण शरीराकारतां नयतीति तात्पर्यम्। त्रयस्त्रिंशद्देवेषु देवव्याख्याने परिगणितेषु द्वादशानामादित्यानामन्यतमोऽयं त्वष्टा श्रूयते, स्मर्यते च। सूर्यरश्मित एव मनुष्यशरीरस्याङ्गप्रत्यङ्गकल्पना जायते, तत्रापि चादित्यप्राणविशेषस्त्वष्टैव मुख्यतया भागं गृह्णातीति मन्त्रेऽस्मिन् स्फुटीभूतम्। ब्राह्मणेऽप्युक्तम्—**'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति'** इति। तदेतेन मर्त्यस्य जडभूतस्य रेतसो देवत्वं देवनिवासयोग्यत्वमुपजायत इत्युक्तं **'मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे'** इति। देवव्याख्याने हि लोकान्तरगता देवा द्विविधा मया प्रतिपादिताः—आजानदेवाः, कर्मदेवाश्चेति। ये जन्मनः प्रभृत्येव देवत्वमाप्तास्त आजानदेवाः, ये तु यज्ञादिकर्मभिर्देवत्वं भजन्ते ते कर्मदेवा इति। ते लोकान्तरगता आजानदेवा अप्यत्र मनुष्यशरीरे सन्निदधत इत्यत्राजानपदेन सूचितम्, अग्रे च चतुर्थे मन्त्रे पुनर्विव्रियेत। **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** (ऐत. उ. २.४) इत्यादिषु श्रुत्यन्तरेषु च स्पष्टीकृतम्।

कौषीतक्युपनिषद्यारम्भादेवेदमुक्तम्—'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (१.२) इति। तत्र चन्द्रमास्तं पृच्छति—कोऽसीति। तस्योत्तरं गतो जीव आह—'विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतः। तन्मा पुंसि कर्तर्य्यैरयध्वम्। पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिञ्च। स जायमान उपजायमानो द्वादशत्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा सं तद्विदे प्रति तद्विदेऽहम्।। ऋतुरस्मि आर्तवोऽस्मि आकाशाद् योनेः सम्भृतो भार्या एतत्संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्यात्मा, त्वमात्मासि, यस्त्वमसि सोऽहमस्मि' (१.२-६) इति।

प्ररोचनाय प्रश्नोत्तरप्रक्रियेयमभिहिता। तात्पर्यं त्वस्य प्रश्नोत्तरस्येदमेव यत् सोमप्रधानाच्चन्द्रमण्डलाद् रेतो जायते, तत एव जीवशरीरं निर्वर्तते, तस्माच्चन्द्रस्यांश एव जीवशरीररूपेण परिणत इति यस्त्वमसि सोऽहमस्मीत्यादिना स्वस्मिंश्चन्द्राभेद एव पुरुषेण ख्याप्यते। रेतःशब्दश्चायं तत्तदुत्पादके सर्वत्रैव व्यवहृतः। यथा हिरण्यरेता इत्यग्निरुच्यते। अग्नेः सारभूतादंशाद्धिरण्यं जायत इति हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वं व्यवहृतम्। एवमेव कृशानुरेता इति रुद्र उच्यते। रुद्रस्यांशादेव भौतिकोऽग्निरुत्पद्यत इति रुद्रस्य रेतः कृशानुरुच्यते। ऐतरेयश्रुतौ तु विस्तरेणेदं स्पष्टीकृतम्—

'अथातो रेतसः सृष्टिः—प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षम्, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नम्, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयम्, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतो वाक्' इत्यादि।

अत्र सर्वत्र सारभूतं तज्जन्यं च रेतःपदेनोक्तम्। तथैवोक्तायां कौषीतकिश्रुतावपि ऋतूनां चन्द्रजन्यत्वाच्चन्द्ररेतस्त्वमुक्तमित्याद्यनुसन्धेयम्। एवं शुक्राहुत्या शरीरनिष्पत्तिपर्यन्तं प्रथमेन मन्त्रेणाभिहितम्। अथ महदात्मनोऽत्र सम्बन्धं बोधयितुं द्वितीयेन मन्त्रेण महानात्मा स्तूयते—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(३१.१८)

अयं महानात्मा श्रुतिषु बहुधा स्फुटीकृतः। सूर्यमण्डलादुपरि वर्तमानस्य परमेष्ठिमण्डलस्यायं रसः।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठो. १.३.१०-११)

अत्र बुद्धेरपेक्षया महतः परत्वमुक्तम्। भगवद्गीतास्वपि च—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(गीता, १४.३-४)

अत्र सर्वभूतानामाकृतिजनकत्वं महत एवोक्तम्। प्रकृतिरूपे च महति विज्ञानात्मा गर्भं दधातीति तत एव सर्वभूतसम्भवो भवति। स एष महान् त्रिविधोऽन्यत्र व्याख्यातः—आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान्, अहङ्कृतिमहांश्चेति। भूतानामाकृतिरनेन सम्पाद्यते। सर्वेषु शरीरनिष्ठेषु मन आदिषु विभिन्नेष्वहंभावोऽप्यनेनैव क्रियते। सोऽयं महान् उक्ते मन्त्रे श्रुतः। तमसः परस्तादित्यनेन सूर्यमण्डलात् परत्वमस्य व्यक्तीकृतम्। मृत्योर्व्याप्तिश्च त्रिलोक्यामिति तं विदित्वा लब्ध्वा मृत्युमतिक्राम्यतीत्यपि मन्त्र उक्तम्। सोऽयं महान् सर्वत्र व्याप्तो भूतात्मना सम्बद्धो भवतीति द्वितीयेन मन्त्रेण सूचितम्। अयमेव महान् सह इति श्रद्धेत्यपि चोच्यते। परमेष्ठिमण्डलादेष चन्द्रोऽवतरति, चन्द्राच्च पृथिवीस्थैर्जीवैः प्राप्यते। श्रद्धाशब्दयायमर्थो यदात्मा श्रयते यदाश्रित्यायमात्मा प्रतितिष्ठति तत् सत्यं श्रत्, श्रतो धानं श्रद्धा। मैत्रात्मप्रतिष्ठाहेतोः सत्यस्य यत्र क्वचिदन्यस्मिन्नात्मनि प्रवाहमर्यादया परिस्थितिस्तत्रैव सत्यवशादयं मैत्रात्मा प्रेमबन्धनेन प्रतितिष्ठति। स तत्रात्मना श्रद्धते। तस्मात्तत्रायमात्माऽनुरज्यते। अनुरञ्जनमद्भिः सम्पद्यते, तस्मादापः श्रद्धा।

तदेवं महत आत्मनः सम्बन्धरूपाद्वितीया महदाहुतिर्द्वितीयेन मन्त्रेणाख्याता।

अथ क्षेत्रज्ञात्मसम्बन्धस्तृतीयेन मन्त्रेणोच्यते। अयमेव विज्ञानात्मेत्युच्यते। शरीरस्थानां सर्वासां प्रजानामयमधिपतिरिति प्रजापतिपदेन मन्त्रोऽयं स्तुतः।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

(३१.१९)

मन्त्रोऽयं प्रजापतिप्रसङ्गे पूर्वस्मिन् देवव्याख्याने सम्यग् विवृतः। अयं हृदि केन्द्रे तिष्ठतीति गर्भे अन्तश्चरतीत्युक्तम्। केन्द्रशक्तिरेवाभितः प्रसृता पिण्डमुत्पादयतीति बहुधा विजायत इत्युक्तम्। केन्द्रशक्त्याधारेणैव सर्वं वस्तु तिष्ठति, केन्द्रस्थानं च दुर्ज्ञेयं भवतीत्यादि सर्वं व्याख्यातपूर्वम्। सेयं तृतीया प्राजापत्याहुतिः।

अयं विज्ञानात्मा बुद्ध्यवच्छिन्नं चैतन्यम्। बुद्धिश्च द्विविधा—विद्या च अविद्या चेति। सात्त्विकी विद्या, तामसी त्वविद्या। धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति विद्यास्वरूपम्। अधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्यविद्यास्वरूपम्। अविद्यया बध्यते, विद्यया तु मुच्यते। तदित्थं बुद्धिसम्बन्धस्तृतीयेन मन्त्रेणोक्तः। चतुर्थेन त्विन्द्रियसम्बन्धो मनःसम्बन्धश्चोच्यते—

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।

पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ इति। (३१.२०)

देवा एवेन्द्रियरूपेण प्रविशन्तीति सूचितं प्रथमे मन्त्रे। अन्यत्रापि बहुत्र श्रुतिषु देवा इन्द्रियाण्युच्यन्ते। अत्र मन्त्रे देवेभ्यो य आतपति, देवानां यो मुख्यो पुरोहित इति मनः सूचितम्। अनेनैव मनसा ब्राह्मी रुग् भवति। स्मृतिष्वप्युक्तम्—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** इत्यादि।

एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः सम्पत्तौ मनुष्यशरीराकारे पूर्णा पञ्चमी ब्रह्मज्योतिराहुतिर्भवति, अर्थाद् यस्यायमपवृक्तोंऽशः पृथक् तन्त्रं प्रवर्तयितुमात्मनि विजातस्तत्र व्यापकं ब्रह्म प्रविशति। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** इति न्यायात्। ब्रह्म हि सर्वत्र परिव्याप्तम्, तद् विना कृतं किमपि न तिष्ठति। सम्पन्ने पृथक् तन्त्रे तत्रापि तस्य व्याप्तिरेव प्रवेशः। अयमेव देहे चिदात्मेति परमात्मेति चाख्यायते। पूर्वं शुक्रेऽनुप्रविष्टश्चिद्धातुस्तु चिदाभास इति। तदेतत्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति॥

(श्वेताश्वतर. ४.६)

इत्याद्यासु श्रुतिष्वपि स्पष्टीकृतम्। भोक्ता चिदाभासः, अनश्नन् केवलं द्रष्टा तु चिदात्मेति। सेयं ब्रह्मज्योतिराहुतिः पञ्चमेन मन्त्रेणोक्ता—

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे॥ इति। (३१.२१)

देवैर्ब्राह्मी रुग् या मनोरूपेण सम्भृता, तस्यामेव चिदात्मनो विकासो जायते। अस्यैव परमात्मनो विज्ञानेनेन्द्रियाणां वशीकारो मुक्तिश्च सम्पद्यत इति मन्त्रोत्तरार्द्धेनोक्तम्। चिदात्मनः परमात्मनः सम्बन्धे च श्रीश्च लक्ष्मीश्च जीवे प्रादुर्भवत इति षष्ठी सप्तमी च श्रिया लक्ष्म्याश्चाहुती षष्ठेन मन्त्रेणाम्नायेते—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण।। इति। (३१.२२)

ताभ्यामाहुतिभ्यां श्रीमदूर्जितञ्च जीवात्मनः स्वरूपं सम्पद्यते। अनयोरेवोत्कर्षे विभूतिरूपता, अंशावतारता वा तत्तेषां शास्त्रेषु व्याख्याता। तदुक्तं भगवता—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। इति।

इत्थं सप्तभिराहुतिभिर्जीवसम्पत्तिर्यज्ञेन सम्यग् विवृता।

यद्वा तृतीयाद्याः पञ्चाहुतयः चतुः प्राश्य ब्रह्मोदनरूपेत्यपि प्रकारान्तरं गुरुचरणैर्व्याख्यातम्। परं तदिह समयाभावाद् ग्रन्थविस्तरभयात्र प्रपञ्चयितुं शक्यते।

अथैवं सृष्ट्यादौ पुरुषत्रयप्रादुर्भावः संसारमूलभूतानां मनःप्राणवाचां परस्परमुत्तरोत्तरीभावश्च सर्व एव यज्ञकृतस्तत्र तत्र व्याख्यायते। क्षरपुरुषकलानां च प्राणाम्बुवागन्नादान्नानां परस्परं पञ्चीकरणं पुरुषसूक्ते सर्वहुद्यज्ञनाम्ना विवृतम्। आदौ च सामग्र्यभावे पुरुषावयवैरेव यज्ञः सम्पाद्यत इत्यपि तत्रोक्तम्—

'देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्'। (पुरुषसूक्ते)

इति। परं तदेतत् सर्वं सृष्टिनिरूपणेनैव व्याख्यातुं शक्यते, न चैकस्मिन् विषये सर्वं समावेशयितुं शक्यमिति केवलं यजमानात्मनः कृत्रिमेण यज्ञेन स्वर्गतिः कथं सम्पाद्यत इति संक्षेपेण विवृत्य यज्ञतन्त्रमिदमुपसंहरामि।

अन्ये सर्वेऽपि यज्ञा अग्नौ सोमाहुतिरूपाः, चयनयज्ञस्त्वग्नावग्नेरेवाहुतिरित्यग्नेरेव चितिस्तत्र सम्पाद्यते। तदेतदुक्तं श्रुतिषु—

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः।

स्वाहाकृत्य ब्रह्मणा ते जुहोमि मा देवानां मिथुयाकर्भागधेयम्।।

(तैत्ति. सं. १.३.७)

अयमेव मन्त्रः किञ्चित्पाठभेदेन शुक्लयजुषि (५.४), अथर्ववेदे (४.३९.९) चाप्युपलभ्यते। इहाग्नावेवाग्नेराहुतिः प्रतिपादिता। अत्राग्निर्द्विविधः—

चित्यः, चितेनिधेयश्च। यस्मिन् हूयते स चित्यः, यो हूयते स चितेनिधेयः। चितेनाग्निनैवाधिदैवमधिभूतमध्यात्मं च देवा भूतानि चोत्पाद्यन्तेऽध्यात्मं देवा इन्द्रियाणीत्युक्तं प्राक्। पुनराहितेन चितेनिधेयेनाग्निना यदा चित्योऽग्निर्बलवान् सम्पाद्यते, तदा जीर्णानि पत्राणीव देवाश्च भूतानि च ततो विस्रंसन्ति। तेन पृथिव्याश्चन्द्रस्य चाकर्षणाद् विमुक्तो यजमानस्यात्मा शुद्धाग्निमयेनाधिदैवं सूर्येणैव सह सम्पद्यते। सूर्यमण्डलमुत्तीर्णस्य च नात्र त्रिलोक्यां पुनरावृत्तिरिति मुक्त एव स भवति। सेयं चयनयज्ञेन क्रममुक्तिः श्रुतिषु ख्याप्यते, सोमाहुतिरूपेण यज्ञेन तु देवेषु गतिर्भवति। तत्राग्न्याधानेन पूर्वं शारीराग्निरूप आत्मा संस्क्रियते, अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यादिभिश्च प्राक्सौमिकपदवाच्यैर्यज्ञैस्तत्र बलमुपचीयते। अनन्तरं सोमयागेनाधिदैवं व्याप्तो योऽग्निस्तेन सम्बन्धः स्थाप्यते, तेन च शरीरबन्धननिवृत्तावाधिदैविकेनाग्निना समाकृष्टोऽयं तत्रैव नियतं प्रकृतिनियमेन गच्छति।

तदित्थं यज्ञसंस्कृतस्य दैवात्मनो यज्ञात्मापरपर्यायस्य देवभावप्राप्तिर्वैज्ञानिकी सिद्धान्तसिद्धा। अत एव स्वर्गकामो यजेतेति डिण्डिमघोषमुद्घोषयन्ति वेदाः।

व्याख्याते यज्ञस्य द्वे फले—जगच्चक्रपरिचालनं च स्वात्मनः स्वर्गतिलाभश्चेति। आद्यो निष्कामानां भगवद्गीतायां विवृतः—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (३.१६) इति॥

जगच्चक्रपरिचालनार्थं क्रियमाणैः कर्मभिर्नात्मा बध्यत इत्यपि तत्रोक्तम्—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

यज्ञार्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (३.९) इति॥

द्वितीयं तु फलं सकामानां स्वर्गे लोके गत्वा तत्र दिव्योपभोगादीति श्रुतिपुराणादिषु सर्वत्र विवृतम्। श्रुतिषु कथं यजमानं स्वर्गलोकं प्रापयिष्यसीति ऋत्विजां प्रश्नोत्तरयोः स्वर्गप्राप्तेर्वैज्ञानिकी प्रक्रियापि स्पष्टमनेकत्र विवृता दृश्यते। यस्या एकदेशः प्राक् स्वैदायनाख्यायिकायां निदर्शितः।

तदिदं भारतसर्वस्वभूतं यज्ञतन्त्रविज्ञानं भारतीयैर्विस्मृतमित्येव तेषां सर्वापेक्षयाऽवनतिदुर्गतिश्च। भगवतः कृपया पुनस्तत्प्राप्तौ भारतं सर्वदेशोन्नतं जगद्गुरुश्च भवितुमर्हतीति शिवम्।

श्रौतयागाः

वैदिकयज्ञः श्रौतो गृह्यश्चेति भेदेन द्विविधः। तत्र श्रौतयज्ञो वेदेन प्रत्यक्षं विहितः। श्रौतयागार्थम् आहवनीयः, गार्हपत्यः, दक्षिणश्चेति त्रयाणाम् अग्नीनामपेक्षा वर्तते। एते त्रयोऽग्नयस्त्रिषु स्वतन्त्रेषु कुण्डेषु स्थाप्यन्ते। तत्र पूर्वस्यां दिशि चतुष्कोणाकारं चतुर्विंशत्यङ्गुलविस्तृतम् आहवनीयकुण्डम्, पश्चिमायां दिशि गोलाकारं त्रयोदशाङ्गुलविस्तीर्णं गार्हपत्यकुण्डम्, दक्षिणस्याञ्च अर्धगोलाकारं सार्धोनविंशत्यङ्गुलविस्तृतं दक्षिणाग्निकुण्डं निर्मीयन्ते। आहवनीयकुण्डस्य मध्य-स्थानाद् गार्हपत्यकुण्डस्य मध्यस्थानं यावत् षण्णवत्य(९६)ङ्गुलव्यवधानं विधीयते।

आहवनीयगार्हपत्योर्मध्ये यत् स्थानं तत्र मृत्तिकया उन्नता एका भूमिर्निर्मीयते। इयं भूमिर्वेदिरित्युच्यते। अस्या एव वेद्याः पूर्वोत्तरपार्श्वे मण्डलाकारमावसथ्याग्निकुण्डं पूर्वदक्षिणपार्श्वे च गोलाकृतिसथ्याग्निकुण्डं वर्तते।

यज्ञेषु केचन यागाः केचन होमाश्च सन्ति। तत्र यजतिशब्देन यानि कर्माणि विहितानि तानि यागा इत्युच्यन्ते। जुहोति-शब्देन विहितानि तु कर्माणि होमा इत्यभिधीयन्ते। यागे आहुतिप्रदानकाले वषट्कारेण (= वौ३षट् इत्येवं) होमे तु स्वाहाकारेण द्रव्यप्रदानं क्रियते। यागे आश्रावणम् (आ = ३श्रा३वय, औ = ३श्रावय), प्रत्याश्रावणं (= अस्तु श्री३षट्) अनुवाक्या याज्या, उपस्तरणम् = पात्रे स्रुवेण आज्यक्षारणम्, अभिघारणं = प्रदानद्रव्यस्य उपरि आज्यक्षारणं च वर्तन्ते। अग्नौ समग्रद्रव्यस्य त्यागो न विधीयते, अपि तु द्रव्यस्यांशविशेषस्य एव। प्रदानार्थम् उद्दिष्टद्रव्याद् अंशविशेषस्य खण्डनम् अवदानम् इत्युच्यते।

यजमानगोत्रानुसारेण चतुर्वारं पञ्चवारं वा अवदानं भवति। तथा हि उक्तम्—

जामदग्न्या वत्सविदा वार्ष्टिषेणस्तथैव च।
भार्गवाश्च्यवना और्वाः पञ्चावत्तिन ईरिताः॥ इति॥

पुरोडाशे सान्नाय्यादीनामवदानकाले इमे उपस्तरणाभिघारणे प्रदेयद्रव्यस्य खण्डद्वयेन सह चतुरवत्ततासम्पादके भवतः। आज्यावदानस्थलेषु आज्यस्य जुह्वां चतुर्वारं ग्रहणं भवति। (अवत्तम्=अव. दो अवखण्डने + भावे क्तः)। पञ्चवारम् अवदानं यस्यास्ति स पञ्चावत्ती। तदन्यः चतुरवत्ती अन्नाय्ययागे आदौ उपस्तरणं, ततो दध्नो वारद्वयम्, अनन्तरं दुग्धस्य च वारद्वयम् अवदानम्, ततश्च अभिघारणं भवति।

होमे तु एतानि न सन्ति। आज्यस्थाल्या ध्रुवायां वा स्रुवायां जुह्वां वा आज्यं गृहीत्वा होमः कर्तव्यः 'उपाकृत्य पञ्च जुहोति' इत्यादौ आहुतिगणे स्रुवेण जुह्वाम् आज्यं गृहीत्वा प्रदानकाले आच्छिद्य (विगृह्य विगृह्य) तद् आज्यम् अग्नौ होतव्यं, हुत्वा हुत्वा पृथग् एव वा गृह्णीयात्, यागे तिष्ठन्नेव कुर्यात्, होमस्तु अग्निमपरेण भूमौ दक्षिणं जानु निपात्य कर्तव्यः। अग्निहोत्राद् अन्यत्र होमे समित्प्रदानं न क्रियते।

अनुष्ठानान्तर्गतेषु यागेषु यो मुख्यस्तस्य प्रधानयाग इति संज्ञा, यश्च गौणस्तस्य अङ्गयाग इति समाख्या। एकैकस्य प्रधानयागस्य अनेके अङ्गयागा अङ्गहोमाश्च स्युः। यज्ञे चेद् अनेके प्रधानयागा वर्तन्ते, तर्हि प्रत्येकं प्रधानयागम् अङ्गकर्माणि न आवर्तन्ते, अपि तु समानकालत्वात् सर्वांस्तान् प्रधानयागान् उद्दिश्य अङ्गकर्मणां सकृद् एवानुष्ठानं भवति। एवमनुष्ठानं तन्त्रेणानुष्ठानम् इत्युच्यते—**'कर्मणां युगपद्भावस्तन्त्रम्'** फलकर्मदेशकालद्रव्यदेवतागुणसामान्ये।[१] मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे सर्वेषामेव यागानां सम्पूर्णविवरणं नोपलभ्यते। येषां यागानां समग्रं विवरणं दृश्यते, ते प्रकृतियागाः, येषाञ्च अंशतो विवरणं दृश्यते, ते विकृतियागाः कथ्यन्ते। विकृतियागस्य येषु विषयेषु प्रकृतियागापेक्षया वैशिष्ट्यानि भवन्ति, तेषामेव विवरणं तत्र दीयते, न तु समग्रस्य अनुष्ठानस्य। वैशिष्ट्येभ्योऽन्यत्र विकृतियागस्य प्रकृतियागवद् एवानुष्ठानं भवति। को यागः कस्य प्रकृतिः, तद्विषये मीमांसाशास्त्रं श्रौतसूत्राणि च अवलोकनीयानि[२]। यज्ञे एकस्य द्रव्यस्य स्थाने द्रव्यान्तरमपि क्वचिद् व्यवहर्तुं शक्यते। इदं द्रव्यान्तरं प्रतिनिधिशब्देन आख्यायते[३]।

यज्ञे ऋग्वेदीयमन्त्राः सामवेदीयमन्त्राश्च उच्चैः पठनीयाः। यजुर्वेदीया प्रैषप्रवरणसंवादाश्रावणप्रत्याश्रावणमन्त्रा अपि तथैव उच्चार्याः। प्रैषप्रवरादिभिन्ना अन्ये मन्त्रास्तु उपांशु='करणवद् अशब्दम् अमनः-प्रयोगं उपांशु पठितव्याः'[४]। सामिधेनीविषयकाणि आश्रावणादीनि मध्यमस्वरेण, सामिधेनीभिन्नानि आरम्भत आज्यभागाभ्यां प्राक् प्रातःसवने च यानि आश्रावणादीनि सन्ति तानि मन्द्रस्वरेण=**सन्निकृष्टस्य जनस्य श्रवणयोग्यः स्वरो मन्द्रः**'। आज्यभागाद् आरभ्य स्विष्टकृतः प्राग् माध्यन्दिनसवने च प्रयोज्यानि आश्रावणादीनि

---

१. कात्यायनश्रौतसूत्रम्, १.७.१.३।

२. आपस्तम्बयज्ञसूत्रम्, ३.३१-४७; ४.२-८।

३. आप. यज्ञ. सू., ३.५१-५२; कात्यायनश्रौतसूत्रम्, १.४. २-१९।

४. तै. प्रा., १३.६।

मध्यमस्वरेण। अन्यत्र च वर्तमानानि तानि कटुस्वरेण (कटुः, कौञ्चः, तारः स्वरः = अर्थाद् दूरस्थस्य जनस्य श्रवणयोग्यः स्वरः) वक्तव्यानि। कटुस्वरेण उच्चारणकाले शीघ्रा गतिः, मध्यमे मध्यमा, मन्द्रे च विलम्बिता गतिः आश्रयणीया। यज्ञकाले सर्वे मन्त्रा उदात्तानुदात्तादिस्वरभेदमकृत्वा पठनीयाः[१]।

मन्त्रान्ते स्वाहाकारोच्चारणकाले वषट्कारोच्चारणसमये वा कर्म आरब्धव्यम्। आधारे वसोर्धारादौ च मन्त्रारम्भकाल एव कर्मारम्भो भवति। यज्ञकाले अग्निमहावेद्याम् अग्नौ अप्रणीतेऽपि तां वेदिञ्च पृष्ठतः कृत्वा कदापि न सञ्चरेत्।

अग्न्याधानम्

वेदाध्ययनं समाप्य गुरोर्गृहात् स्वगृहं प्रत्यागत्य आर्येण विवाहः कर्तव्यः। अकृतविवाहस्य यज्ञे अधिकारो नास्ति।

न वै अपत्नीकस्य हस्ताद् देवा बलिं गृह्णन्ति।

अर्धो ह वा एष यज्ञस्य यत् पत्नीम्॥

विवाहानन्तरं श्रौतयज्ञाय यस्मै यः कालो विहितः, तस्मिन् विहिते काले आहवनीयादीनाम् अग्नीनां कुण्डेषु स्थापनं कार्यम्। इदम् अग्निस्थापनम् 'अग्न्याधानम्' इत्युच्यते।

विवाहाग्नेः औपासनाग्निरिति संज्ञा। आधानात् पूर्वदिने ताम् औपासनाग्निं गार्हपत्यकुण्डाद् बहिः पश्चाद्भागे निधाय तत्र ब्रह्मौदनपाकः ('ऋत्विजां भोजनाय पक्वम् ओदनं ब्रह्मौदनम् इत्युच्यते') कर्तव्यः। तस्मिन्नेवाग्नौ समिदाधानञ्च ततः कर्तव्यम्। आधानदिने प्रथमम् अरणिशब्दवाच्ययोर्द्वयोरश्वत्थकाष्ठ-खण्डयोर्घर्षणेन उत्पाद्य सोऽग्निः गार्हपत्यकुण्डे स्थापनीयः। एतेन गार्हपत्याग्नेः आधानं सिद्ध्यति।

प्रत्येकरणिः षोडशाङ्गुलदीर्घा द्वादशाङ्गुलविस्तृता चतुरङ्गुलोन्नता (१६×१२×४) च भवति[२]।

गार्हपत्याग्नौ स्वकुण्डे स्थापिते, तस्माद् एव कुण्डात् कश्चिद् अङ्गारमुद्धृत्य अन्यस्माद् वा कस्माच्चित् स्थानाद् अग्निम् आनीय सः 'अग्निः' दक्षिणाग्निकुण्डे स्थापनीयः। अनेन दक्षिणाग्नेराधानं सिद्ध्यति।

---

१. पारस्करगृह्यसूत्रम्, १.२.३४।

२. 'अश्वत्थाच्छमीगर्भाद् अरणीम् आहरेद्'। (आश्व. श्रौ. सू., २१.१५)

ततो गार्हपत्यकुण्डात् कश्चिद् अङ्गारमानीय आहवनीयकुण्डे स्थापयेत्। एतेन आहवनीयाधानं सम्पद्यते। त्रिषु एव कुण्डेषु अग्निस्थापनात् पूर्वं सिकता, ऊषरमृत्तिका 'ऊषाः', मूषिकोत्कीर्णा मृत्तिका, वल्मीकमृत्तिका, अशोष्यस्य जलाशयस्य मृत्तिका, 'सूदः' शूकरोत्पादिता मृत्तिका, 'वराह-विहतम्' शर्करा उपतत्त्वखण्डानि, क्षुद्रप्रस्तराश्चेति सप्त पार्थिवोपकरणानि, अश्वत्थकाष्ठम्, उदुम्बरकाष्ठं, पलाशकाष्ठं, शमीकाष्ठं 'शाइ इति भाषायाम्' विकङ्कतकाष्ठं 'वेच इति भाषायाम्' वज्रपातितकाष्ठं पद्मपत्रञ्चेति सप्तवानस्पत्योपकरणानि च स्थापनीयानि।

आधानम्=कुण्डे अग्निस्थापनानन्तरं प्रतिदिनं गार्हपत्याग्निर्ज्वलदवस्थायां संरक्षणीयः। यज्ञदिवसे अस्माद् गार्हपत्यात् कुण्डान्तरे इदम् अङ्गारनयनम् अग्निप्रणयनम् इत्यभिधीयते। अग्निप्रणयनाद् अनन्तरम् अन्वाधानमपि कर्तव्यम्। अन्वाधानं नाम अग्नौ काष्ठप्रदानम्।

पवमानेष्टिः

अग्न्याधानादनन्तरमेव आहितेषु तेषु त्रिषु अग्निषु श्रौतयज्ञाः कर्तुं शक्यन्त इति न। संस्कृतेषु एवाग्निषु श्रौतकर्माणि कर्तुं शक्यन्ते। श्रौतकर्मार्थम् अग्नीनां संस्कारः कर्तव्यः। अग्निसंस्काराय तिस्रः पवमानेष्टयः अनुष्ठेयाः। तिसृषु इष्टिषु यथाक्रमम् अग्निः पवमानः, अग्निपावकः, अग्निः शुचिश्च प्रधानदेवता सर्वत्र अष्टसु कपालेषु संस्कृतः (पक्वः) पुरोडाशः प्रदानद्रव्यम्। अग्न्याधानदिवसे संवत्सरमध्ये निर्दिष्टे दिवसे वा इमा इष्टयः समानतन्त्रेणानुष्ठेयाः।

अग्निहोत्रम्

अग्निहोत्रहोमार्थं यद् अग्न्याधानं तद् होमपूर्वाधानम् इति कथ्यते। होमपूर्वाधानपक्षे यस्मिन् दिवसे आधानं पवमानेष्टयश्चानुष्ठीयन्ते तस्मिन्नेव दिवसे सायम् अग्निहोत्रस्यापि आरम्भः कर्तव्यः। एतत्पक्षे अग्निहोत्रात् पूर्वं कोऽपि अन्यः श्रौतयज्ञो न अनुष्ठीयते। यत्र आदौ दर्शपूर्णमासेष्ट्या श्रौतयज्ञो न अनुष्ठीयते। यत्र आदौ दर्शपूर्णमासेष्ट्या श्रौतकर्मारम्भः, तत्पक्षे यद् आधानं क्रियते, तद् 'इष्टिपूर्वाधानम्' इत्युच्यते। आदौ सोमयागम् एव करिष्यामि, ततः अन्यान् यागान् इति सङ्कल्प्य यत्र आधानं क्रियते, तत्र तत् 'सोमपूर्वाधानम्' इत्यभिधीयते।

होमपूर्वाधानपक्षे अग्न्याधानानन्तरं प्रतिदिनं सायं प्रातश्च अग्निहोत्रम् अनुष्ठेयम्। सायम् अग्निः, प्रजापतिश्च, पातश्च सूर्यः, प्रजापतिश्च क्रमेण देवताः। आहुतिद्रव्यं सर्वत्र दुग्धम्। सायं सूर्ये अस्तङ्गते, प्रातश्च सूर्योदयात् पूर्वम् अग्निहोत्रम् अनुष्ठेयम्।

बह्वृचशाखीया छन्दोगाः, कात्यायनानुगाश्च सूर्योदयात् पूर्वम् एव अग्निहोत्रहोममनुतिष्ठन्ति। अतस्तेषाम् 'अनुदितहोमिनः' इति संज्ञा। कठशाखीयाः, तैत्तिरीयशाखीयाः, मैत्रायणशाखीयाश्च 'एते सर्वे एव कृष्णयजुर्वेदीयाः' सूर्योदयात् परम् अग्निहोत्रम् अनुतिष्ठन्ति। अतस्ते उदितहोमिन इत्याख्यायन्ते।

अग्निहोत्रार्थं गा दुग्ध्वा दुग्धं कुम्भ्यां गृहीत्वा कुम्भीस्थं तद् दुग्धं गार्हपत्याद् गृहीत्वा कुण्डाद् बहिः स्थापितेषु अङ्गारेषु सन्तापनीयम्। सन्तप्तं दुग्धं स्रुवेण अग्निहोत्रहवण्यां चतुर्वारं ग्रहणीयम्। ततो गृहीतं तद् दुग्धम् आहवनीयाग्नौ एकस्यै देवतायै प्रदाय पुनरनेनैव प्रकारेण दुग्धं गृहीत्वा अपरस्यै देवतायै तथैव आहुतिप्रदानं कार्यम्। इत्थं सायं प्रातश्चाग्निहोत्रम् अनुष्ठीयते।

दर्शपूर्णमासो यागः

श्रौतयागा इष्टियागः, पशुयागः, सोमयागश्चेति भेदेन त्रिविधा भवन्ति। तत्र शस्यद्रव्येण क्रियमाणो यागः 'इष्टियाग' इत्युच्यते, यत्र पशुं निहत्य निहतस्य पशोः अङ्गैर्यागोऽनुष्ठीयते स पशुयाग इति व्यपदिश्यते। सोमरसप्रदानमेव यत्र मुख्यम् अनुष्ठानं स इत्याख्यां लभते। सर्वेषामिष्टियागानां दर्शपूर्णमासौ एव प्रकृतिः। दर्शपूर्णमासयोर्दर्शेष्टिः पौर्णमासेष्टिश्चेति इष्टिद्वयं वर्तते। तत्र पूर्णिमायां कृष्णप्रतिपदि च पौर्णमासेष्टिः, अमावास्यायां शुक्लप्रतिपदि च दर्शेष्टिरनुष्ठीयते। पौर्णमासेष्ट्या एव दर्शपूर्णमासयोः प्रारम्भो भवति।

पौर्णमासेष्टौ क्रमेण अग्निः, विष्णुः, प्रजापतिः, अग्नीषोमौ च प्रधान-देवताः। तत्र द्रव्याणि यथाक्रमम् अष्टाकपालः पुरोडाशः, आज्यम्, एकादशकपालः पुरोडाशश्च। दर्शेष्टौ पुनः अग्निः, विष्णुः, 'असोम-याजिनाम्' इन्द्रश्च प्रधान-देवताः। तत्र द्रव्याणि क्रमेण अष्टाकपालः पुरोडाशः, आज्यम्,द्वादशकपालः पुरोडाशश्च।

सोमयाजिनाम् आधानानन्तरं यैः सोमयाग एवादौ अनुष्ठीयते, तेषां तु अग्निः, इन्द्रश्च दर्शेष्टौ देवताः। यथाक्रमम् अष्टाकपालः पुरोडाशः, दधि, दुग्धं च द्रव्याणि। अग्नौ प्रदानकाले दध्नो दुग्धस्य च सह प्रदानं भवति।

मिलितयोर्दधिपयसोः 'सान्नाय्यम्' इति संज्ञा। सर्व एव इमे प्रधानयागास्तन्त्रेण प्रयोज्याः। सर्व एव इमे प्रधानयागाः, अङ्गयागाश्च प्रतिपदि एवानुष्ठीयन्ते।

पूर्णिमायाम् अमावास्यायाञ्च केवलं यागाय सङ्कल्पो द्रव्यसंग्रहश्च क्रियते। अमावास्यायां प्रातः बहुपत्रोपशाखाविशिष्टायाः शमीशाखायाः पलाशशाखाया वा आहरणमपि क्रियते। अनया शाखया गोवत्सा गोभ्यः पृथक्-क्रियन्ते। इदं पृथक्करणं 'वत्सापाकरणम्' इत्युच्यते। गावः सञ्चरणार्थं क्षेत्रं प्रति प्रेर्यन्ते। अपराह्णे अमावास्यायामेव स्वर्गतान् पितृपुरुषान् उद्दिश्य पिण्डपितृयज्ञः अनुष्ठीयते। सायं क्षेत्राद् गोषु यजमानगृहं प्रत्यागतासु तासां दोहनं कार्यम्। ततो दुग्धं पयः सन्ताप्य तत्र अत्यल्पदधिनिक्षेपः कर्तव्यः। दधिनिष्पादनाय पयसि अयं दधिनिक्षेपः आतञ्चनमिति कथ्यते। आतञ्चनेन निष्पन्नं दधि परेद्युः प्रधानयागे व्यवह्रियते। प्रधानयागीय-दुग्धाय इन्द्रदेवताकदुग्धाय शुक्लप्रतिपदि प्रातः पुनर्वत्सापाकरणं दोहनञ्च कर्तव्ये।

चातुर्मास्ययागः, वैश्वदेवपर्व, वरुणप्रधानपर्व, शुनासीरीपर्व, पाशुकचातुर्मास्यम्, सौमिकचातुर्मास्यम्, नवान्नेष्टिः, पशुयागः, सौत्रामणीयागः, सोमयाग इत्यादीनां विविधयागानां विशद-विस्तृत-विवरणं यज्ञतन्त्रसुधानिधौ तथा क्रतुरत्नमालायां विस्तरेणोपलभ्यते। अधुना संक्षेपेणाऽस्मिन्निबन्धे युज्यत इत्यलं विस्तरेण।

प्रश्नोत्तरयोः स्वर्गप्राप्तेर्वैज्ञानिकी प्रक्रियापि स्पष्टमनेकत्र विवृता दृश्यते। यस्या एकदेशः प्राक् स्वैदायनाख्यायिकायां निदर्शितः।

तदिदं भारतवर्षस्य निधिभूतं यज्ञतन्त्रविज्ञानं अस्माभिरूपेक्षितं विस्मृतप्रायमित्येवास्माकं कृतेऽन्यदेशापेक्षयाऽवनतेर्दुर्गतेश्च कारणम्। परमेश्वरस्य साक्षादनुकम्पयैव यदि पुनस्तत्प्राप्तिः स्यात्तर्हि पुनरस्माकं देशो विकासस्य चरमावस्थामवाप्तुं समर्थः स्यादिति।

श्रौतयागप्रयोगः

यज्ञीयपरम्परामुद्दिश्य किञ्चिन्निवेद्यते, पुनर्जन्मवादो भारतीयदर्शनसम्मतः। लोकेऽस्मिन् प्राणिनो जन्मजरामृत्यूंश्च लभन्ते। एकस्य जन्मनोऽनन्तरं जन्मान्तरमाप्नुवन्ति। देहिनो जीर्णवस्त्रवत्पूर्वशरीरं परित्यज्य शरीरान्तरं स्वीकुर्वन्ति। यद्यपि ते पाञ्चभौतिकानि शरीराणि परित्यजन्ति, तथापि विविधसंस्कारावच्छिन्नानि सूक्ष्मशरीराणिताननुसरन्त्येव। संस्काराश्चैते स्वकृतपापपुण्यप्रभावोद्भूता एव परिगण्यन्ते।

श्रुतिस्मृतिसदाचारप्रतिपादितकर्मणां प्रसादेन पुण्यस्य, एतद्विरुद्धकर्माचरणेन च पापस्य सञ्चयः श्रूयते। तत्र पुण्यमाहात्म्येनोत्तमस्य पापप्रभावेण च हीनस्य जन्मनोऽवाप्तिः। अतः कर्मयोग एव पुनर्जन्मवादस्याधारशिला। सत्कर्मणो धर्मसञ्चयस्तेनैवोत्तरोत्तरलोकावाप्तिः। कर्मविधानविधाता धर्माधर्मनिर्णेता च सकलविद्याविज्ञानो वेद एव। अतः श्रेयःप्राप्त्यभिलाषिणे मानवाय वेदानुकूलानुष्ठानमेवेह परममुन्नतिसाधनम्।

वेदश्च **'स्वर्गकामो यजेत'**, **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'**, **'स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत'**, **'वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति'**, **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'**, **'श्येनेनाभिचरन् यजेत'** इत्यादिविविधवाक्यसमूहैरैहि-कामुष्मिकसकलकल्याणलाभाय कर्मानुष्ठानानि प्राणिनां पुरः प्रापयति। प्रत्यनुष्ठानं पृथक्-पृथक् फलानुबन्धिन्यो युक्तयो विद्यन्ते। तद्विवरणानि च ब्राह्मणग्रन्थेषु परिस्फुरन्ति। तासां प्रक्रियाणां विशदा व्याख्या समस्ताः पद्धतयश्च सकलेषु श्रौतसूत्रेषु दृष्टिपथमायान्ति। सूक्ष्मेक्षिकैः सूत्रकारैर्वेदरहस्यान्यात्मसात्कृत्वा ब्राह्मणग्रन्थतत्त्वान्यालोड्य च मानवकल्याणाय कर्मानुष्ठानकल्पानां साङ्गोपाङ्गं विवेचनं प्रस्तूयते। अतः श्रौतसूत्रप्रदर्शितश्रौतयागप्रक्रियावबोधाय श्रौतसूत्रज्ञानमेव यज्ञतन्त्रं शरणम्।

अपौरुषेयास्वनेकासु संहितासु बहुषु स्थलेषु विकीर्णानि ऋत्विग्देवताबर्हीध्मप्रभृतीनि यागसाधनानि समवलोक्यन्ते। परं तत्र तानि शृङ्खलाविरहितान्येव सन्ति। विध्यर्थवादेतिहासादिसनाथेषु संहितातिरिक्तेषु वेदग्रन्थेषु समुपबृंहिता यागसामग्री नयनगोचरतामायाति। अरण्यानामेकान्तपरिसरेषु जीवनपरमरहस्यमवलम्ब्याध्ययनाध्यापनमननविषयसमर्थानां ग्रन्थसमूहानामारण्य-कमिति नाम, ब्रह्मानन्दावाप्तिसाधनभूतास्तूपनिषदः। तासामाध्यात्मिकतत्त्व-युक्ताद्वेदान्त इति नामान्तरम्।

परमेतेषां वेदानां शब्दार्थरहस्यावबोधनसामर्थ्यन्तु वेदाङ्गेष्वेव परिनिष्ठितम्। तानि च वेदाङ्गानि—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति नाम्ना षट्संख्यामितानि। एतेषु वेदाङ्गेषु कल्पस्य द्वितीयं स्थानम्। 'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते' इति वदता भगवता पाणिनीयशिक्षाकृता कल्पस्य वेदहस्तात्मकत्वं कल्पितम्। कल्पनाम्ना च श्रौतसूत्रगृह्यसूत्रधर्मसूत्राणि पुरत आयान्ति। एतेषां वेदादारभ्य कल्पपर्यन्तानां सत्यपि समवाये तत्र तत्र प्रयुक्तवाक्यार्थनिर्णयावसरे समुपस्थितेष्वनेकेषु संशयेषु कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयावाप्त्यै सहस्राधिकरणोपबृंहितं भगवता जैमिनिना प्रणीतं मीमांसाशास्त्रम्।

श्रौतसूत्रनिर्दिष्टपथा क्रियमाणा अग्निहोत्रहवन-मित्रविन्दाज्योतिष्टोम-राजसूयाश्वमेधप्रभृतयः श्रौतयागाः। गृह्यसूत्रोक्तमार्गानुसारं समनुष्ठेयानि तत्रौपासन-होमवैश्वदेवपार्वणादीनि स्मार्तानुष्ठानानि।

श्रौताग्निपरिग्रहसमयो यागसंस्था च

समधिगतवेदविद्यावता द्विजेन **'आवसथ्याधानं दारकाले'** इति पारस्कराचार्यवचनमनुसृत्य पाणिग्रहणसमकालमेव स्मार्ताग्निः परिग्राह्यः। तस्मिन्नग्नौ चौपासनहोम-वैश्वदेव-पार्वण-अष्टका-मासश्राद्ध-श्रवणाकर्म-शूलगवा-भिधाः सप्त पाकसंस्थाः समनुष्ठेयाः। गच्छता कालक्रमेण **'जातपुत्रः कृष्णकेशः श्रौताग्निमादधीत'** इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य नियतकाले देशविशेषे पुरुषविशेषेण सपत्नीकेन श्रौताग्न्याधानम्। श्रौताग्निपरिगृहीतेनैव यजमानेनाग्निहोत्रहवन-दर्शपौर्णमास-आग्रहायण-चातुर्मास्य-निरूढपशुबन्ध-सौत्रामणी-पिण्डपितृयज्ञाभिधाः सप्त हविःसंस्थाः समनुष्ठेयाः, ततोऽग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-उक्थ्य-षोडशी-वाजपेय-अतिरात्र-आप्तोर्यामाभिधानां सप्त सोमसंस्थानामनुष्ठानं विधेयम्।

अग्निचयनम्

वर्षेऽस्मिन् समाचरितस्य साग्निचित्सार्वपृष्ठाप्तोर्यमनामाभिधस्य यागस्य परिचयस्त्वेवंभूतो वेदशास्त्रविश्रुतः श्रूयते। यत्र प्रकारविशेषेणेष्टकानां चयनं विधाय चितिर्निर्मीयते सोऽग्निचयननामको यागः। तस्याङ्गी च सोमसंस्थान्तर्गत आप्तोर्यामनामको यागः। अत्राग्निचयनपदान्तर्गतेनाग्निशब्देनापाततो वह्निरूपोऽर्थः परिस्फुरति सुमेधसां चेतसि। किन्त्वत्र **'अग्निं चेष्यमाणोऽग्निं प्रोक्षति'** इति कात्यायनमतानुसारम् **'अग्निं चित्वा अग्निमारोहन्ति'** इति शतपथब्राह्मणस्वारस्येन च वह्निरूपस्यार्थस्यासङ्गतिः, वह्नौ दाहकत्वस्य विद्यमानत्वादारोहणव्यापारस्य तत्राशक्यत्वात्। एतदर्थम् 'इष्टकाभिरग्निं चिनोतीति चारोहणप्रोक्षणे स्थलस्योच्येते' इति कात्यायनशतपथप्रभृतीनां स्वारस्यं विशदीकुर्वतां कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्य-रचयितॄणां क्रकचाचार्याणां कथनानुसारमग्न्याधाररूपाणामिष्टकानां परिग्रहेणा-सङ्गतेरनवकाशः।

चितेश्चयनम्

अत्राग्निचयनयागे सोमयागसदृशीमुत्तरवेदिमकृत्वोत्तरवेदिस्थाने इष्टकानां चितिर्विधीयते। एतदर्थं पूर्वमेव विधिपुरस्सरमिष्टका निर्मीयन्ते। तासामिष्टकानां

मानमूलकाश्चतुर्दशभेदा भवन्ति। इष्टकानां संस्था (११११७०) सप्तत्युत्तरमेकशतमेकादशसहस्रम्। सर्वासामपीष्टकानां नामानि पृथक्-पृथङ्निर्दिष्टानि। आसामुपधानप्रकारश्च विशिष्टरूपः। तत्र विधिविहितदिङ्मुखेनाध्वर्यूणां मन्त्रोच्चारणपूर्वकमिष्टका उपधीयन्ते।

सुपर्णचितिः

सुपर्णचितिद्रोणचितिश्येनचित्यादीनामनेकासां चितीनां चयनविधाने विद्यमानेऽपि विशिष्टफलवत्त्याः सुपर्णचितेरेव चयनमत्र प्रकृतयागे समाचरितम्। अस्याश्चितेर्वैशिष्ट्यं महता विस्तरेण शतपथब्राह्मणे प्रपञ्चितम्। एतस्याश्चितेः पञ्चप्रस्तारा विद्यन्ते। चितेरङ्गानि त्रीणि भवन्ति—आत्मा, पक्षौ, पुच्छश्च। आत्मन आयामो विस्तारश्चाहिताग्निहस्तमानेन दशहस्तपरिमितः। आत्मन एव संलग्नौ दक्षिणोत्तरौ द्वौ पक्षौ भवतः। उभयोरप्येतयोरायामः पञ्चहस्तात्मको विस्तारश्च षड्हस्तात्मक आत्मनः पश्चिमभागसंल्लग्नस्य पुच्छस्यायामोऽपि पञ्चहस्तमात्रः। विस्तारस्तु सार्द्धपञ्चहस्तपरिमितः। एतस्याश्चितेः साङ्गोपाङ्गं क्षेत्रफलं तु सार्द्धसप्तपुरुषमितम्। एकस्य प्रस्तारस्योपर्येवापरः प्रस्तारश्चीयते। एवं पञ्चप्रस्ताराणामेका चितिरुच्यते। आहवनीयस्थानभूतैषा चितिर्विराजते। तस्यामेवाग्निमुपधाय यागाः क्रियन्ते। प्रधानयागा अप्यत्रैव विधीयन्ते।

पृष्ठ्यस्वरूपं सोमयागश्च

स्पृशति प्राप्नोति स्वर्गो लोकोऽनेन सामषट्केनेति पृष्ठ्यः। **'स्वर्गं लोकमस्पृशंस्तस्मात्पृष्ठ्यः'** इति शतपथब्राह्मणवचनमादृत्य पृष्ठ्यस्वरूपमवधार्यम्। अस्मिन् यागे बृहद्रथन्तरादीनां सर्वेषां पृष्ठ्यानां समवायः। अथ विधिविहिते काले कौत्सगोत्रवतो ब्राह्मणाद् गोविनिमयेन वेदशास्त्रविख्यातस्य दिव्यौषधिस्वरूपस्य लतात्मकस्य सोमस्य क्रयणम्। सम्प्रत्यन्तर्भूतायाः सोमलतायाः स्थाने विधिप्रतिपादिता पूतिकाभिधा लता उपयुज्यते प्रतिनिधिभूताया अपि पूतिकाया विध्युच्चारणकाले सोम इत्येव व्यवहारः साम्प्रदायिकः। तस्या एव रसं निष्कास्य ऋत्विग्द्वारा यागा विधीयन्ते। एतदर्थमेवास्य यागस्य सोमयाग इत्यन्वर्थकं नाम।

आप्तोर्यामयागस्य वैशिष्ट्यम्

पुरा किल सर्जनकाले प्रजापतिना सर्वेऽपि देवाः सृष्टाः, तत्समकालमेव तेभ्यो देवेभ्योऽन्नपानं निरमायि। तदन्नपानञ्च यज्ञा एव। ते च यज्ञाः

सोमसंस्थास्वरूपाः सप्त। यद्यपि तेन प्रजापतिनाग्निष्टोमादारभ्यातिरात्रान्ताः षट्संख्यामिताः सोमयागाः सृष्टाः, तथापि देवानां सन्तुष्टिर्नावलोकिता। समुत्पन्नास्ते यागा देवसन्तर्पणसमर्था नाभूवन्। ततस्तेन प्रजापतिनाऽऽप्तोर्यामनामिका सप्तमी सोमसंस्था निरमायि। अथाप्तोर्यामनामकं यागमुपलभ्य सर्वेऽपि देवाः परमां तुष्टिमवापुरिति शाङ्खायनश्रौतसूत्रोक्ताख्यायिकात्रानुसन्धेया। अयमाप्तोर्यामनामको यागः सोमसंस्थान्तर्गतस्यातिरात्राभिधस्य यागस्य विकृतिः।

श्रौतयागेषु ऋत्विजां संख्यानियमः

समस्तेषु श्रौतयागेषु विध्यनुसारमृत्विजां संख्या नियमिता। यथाग्निहोत्रहवने केवलमेकैव, दर्शपौर्णमासादिनित्ययागेषु मित्रविन्दादिकाम्ययागेषु च चत्वार ऋत्विजः। चातुर्मास्ययागे पञ्चर्त्विजः। षड्ऋत्विजः सौत्रामण्याम्। अग्निष्टोमप्रभृतिषु सोमयागेषु ततोऽग्रे जायमानेषु समस्तेषु यागेषु सत्रादिषु च प्रधानर्त्विजां संख्या षोडश, प्रकृतयागस्य सोमयागत्वादत्रापि सा संख्या षोडशैव। अत्र ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्यवश्चत्वारो गणाः। प्रत्येकस्मिन् गणे चत्वार ऋत्विजः। उत्तरोत्तरं तेषु कार्यपददक्षिणादिकमवलम्ब्य गौणत्वम्।

ऋत्विग्गणस्तत्संख्या नामानि च

(क)	ब्रह्मगणः	(ख)	उद्गातृगणः	(ग)	होतृगणः	(घ)	अध्वर्युगणः
(१)	ब्रह्मा	(१)	उद्गाता	(१)	होता	(१)	अध्वर्युः
(२)	ब्राह्मणाच्छंसी	(२)	प्रस्तोता	(२)	मैत्रावरुणः	(२)	प्रतिप्रस्थाता
(३)	आग्नीध्रः	(३)	प्रतिहर्ता	(३)	अच्छावाक्	(३)	नेष्टा
(४)	पोता	(४)	सुब्रह्मण्यः	(४)	ग्रावस्तुत्	(४)	उन्नेता

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणानियमः

अत्राङ्काङ्कितेन लेखनक्रमेण दक्षिणाविभागोऽपि निश्चितः। प्रकृतयागे शतं गावो दक्षिणाः। तत्र गणेषु प्राथमिकेभ्यश्चतुर्भ्यः प्रत्येकं द्वादश गावः प्रदीयन्ते, ते चत्वारोऽपि दक्षिणाक्रममवलम्ब्य पूर्णिन उच्यन्ते। द्वितीयेभ्यश्चतुर्भ्यः प्रत्येकमर्पणीयानां गवां संख्या षट्, नाम्ना च तेऽर्द्धिनः। तृतीयेभ्यश्चतुर्भ्यः प्रत्येकं चतस्रो गावोऽर्पणीयाः, नाम्ना च ते तृतीयिनः। अन्तिमेभ्यश्चतुर्भ्यस्तिस्रो गावः

प्रत्येकं प्रदातव्याः, नाम्ना च ते पादिन इति समाख्याताः। एवंरूपेण शतगोदक्षिणायाः सविभागमर्पणम्। एतदतिरिक्ता अन्येऽपि केचन ऋत्विजो भवन्ति। यथा दश चमसाध्वर्यवः, सोमप्रवाक एकः, त्रय उपगातारः, एकः सदस्यः, एक एवात्रेयः। पूर्वोक्तनिश्चितदक्षिणायाः पृथग्रूपेणैतेभ्यो दक्षिणादानम्।

श्रौतयागे सकलवेदानामुपयोगः

'यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः' इत्यापस्तम्बवचनानुसारं सोमयागमारभ्यैव त्रयाणां वेदानामुपयोगः। तत्राध्वर्युगणो यजुर्वेदविद् ऋग्वेदज्ञातृत्वं होतृगणस्य, सामवेदानुसारमुद्गातृगणकार्यम्, ब्रह्मणा च सर्वैरनुष्ठितानां कार्याणां कृताकृतावेक्षणम्। स च यजमानशाखानुसारं सकलमपि स्वीयं यागकार्यं सम्पादयति। गोपथब्राह्मणवचनमालम्ब्य चायमथर्ववित्।

प्रकृतोऽयं साग्निचित्सार्वपृष्ठाप्तोर्यामनामको यागः सप्तभिर्दिवसैः समाप्तिं याति। तत्र प्रथमदिवसेऽग्निचयनयागसाधनीभूतेष्टकानिर्माणाय तत्प्रयुक्तप्राजापत्यपशुयागः। मङ्गलकामनया यजमानेन सङ्कल्पपुरस्सरं गणपतिपूजन-स्वस्तिवाचनप्रभृति-पञ्चाङ्गं विधाय ब्रह्मादीनां षड्ऋत्विजां दैवमानुषात्मकं द्विविधमपि वरणं विहितम्। ततो वृतानामृत्विजां मधुपर्केणार्चनम्। अनन्तरं प्राजापत्यपश्वनुष्ठानम्। अस्मिन् कर्मणि शुक्लकृष्णरोमवानज आलभ्यः। अन्ते शतब्राह्मणभोजनं सङ्कल्पितम्।

उखासम्भरणम्

अग्निसंरक्षणाय मानविशिष्टा मृत्तिकानिर्मिता मञ्जूषा उखेत्युच्यते। आदौ तस्यामग्निं संस्थाप्यानन्तरं स एवाग्निर्गार्हपत्ये स्थाप्यते, पशुमस्तकसहितोखा च चितावुपधीयते। तस्या निर्माणविधिस्त्वेवम्—वल्मीकमृत्तिकामजलोमानि लौहचूर्णानि शर्करामश्मचूर्णानि च पालाशकषायेण संयुज्य तत्रैव सिकतामुपकीर्योर्ध्वतस्तिर्यक् च प्रादेशमात्री चतुरस्रा निर्मिता। ततस्तस्या उखाया बहिर्भागे तृतीयांशे वर्त्तिकैका तिरश्चीनप्रतिदिशमेकैका पूर्वतनवर्तिकासंस्पृष्टा च विहिता। वर्तिकाया अग्रे स्तनाकारं चिह्नञ्च विधाय ततोऽग्नावुखा दीपिता।

इष्टकानिर्माणम्

एतया सह तयैव मृत्तिकयाषाढाविश्वज्योतिस्संज्ञका इष्टकाश्च निर्मिताः। एतदतिरिक्ता अध्यर्द्धा-अर्द्धपद्या-अर्द्धपादभागा-अर्द्धबृहती-अर्द्धोत्सेधार्द्धपद्या-

अर्द्धोत्सेधापद्या-चतुर्भागा-जङ्घामात्री-त्रिग्राहिणी-पद्या-पादभागा-पादोनपद्या-बृहती-वक्रासंज्ञका-यथाकथितायामविस्ताराश्चतुर्दशप्रकारविशिष्टा इष्टकाः सम्पादिताः। संख्या चैतासां सप्तत्युत्तरमेकशतमेकादशसहस्रात्मिका। अत्रैवान्यासामष्टाविंशति-संख्याकानामिष्टकानां योगेनाष्टनवत्युत्तरमेकशतमेकादशसहस्रं संख्या जायते। तत्र प्रथमचितावुपधीयमानेष्टकास्वेव गार्हपत्यचयनीयानामेकविंशतिसंख्याकानामपीष्टकानां समवायः। एवमेव पञ्चमचितिनिर्माणकथितास्विष्टकासु होत्रादिसमस्तधिष्ण्यासु चयनीयानामष्टसप्ततीष्टकानां संग्रहः सुधीभिर्बोधनीयः।

श्रौतयागदीक्षा

द्वितीयदिवसे प्रकृतयागस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामनाव्यापृतेनाग्निपरिगृहीतेन यजमानेन प्रधानयागसङ्कल्पः, पञ्चाङ्गविधिश्च समाचरितः। यागविधि-सम्पादनसमर्थानां षोडशर्त्विजां दैवमानुषात्मकं द्विविधमपि वरणं सम्पादितम्। वृताश्चर्त्विजस्ते मधुपर्कविधिना पूजिताः।

'क्रत्वर्थमपदिश्यान्यस्मै' इति कात्यायनश्रौतसूत्रानुसारं यथासमय-मपेक्षिताया यागसामग्र्याः समुपस्थापनाय कमपि निपुणं जनं नियुज्य सपत्नीक आहिताग्निर्दीक्षाविधानाय प्रवर्तितः। अत्र दम्पत्योर्दीक्षासंस्कारः। तत्राध्वर्युणा यजमानस्य, प्रतिप्रस्थात्रा च पत्न्या दीक्षासंस्कारो विहितः। एतद्दीक्षाविधानं दीक्षाशालायां समाचरितम्। तत्रादौ यजमानस्य क्षौरसंस्कारः। अत्र संस्कारेषु केचन केवलं यजमानस्य, केचन केवलं पत्न्याः, केचन द्वयोरपि। यथा क्षौरसंस्कारो यजमानस्य, शिरसि जालबन्धनं पत्न्याः, अञ्जनादिकं तूभयोः।

दीक्षणीयेष्टिविधानम्

अस्यामिष्टावाग्नावैष्णवदेवताक एकादशकपालेषु पुरोडाशः। आदित्येभ्यो घृतेऽधिश्रितश्चरुः। अत्र प्रस्तोतृकर्तृकस्तार्क्ष्यसामपाठः। दम्पत्योरक्षिस्वञ्जनम्। सप्तभिः साग्रैः कुशतृणैस्तयोः शरीरपावनम्। तदनन्तरमुभयोर्मुष्टिबन्धनविधिः। अस्मिन् कर्मणि हस्तयोरङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ विहाय सर्वासामप्यङ्गुलीनां वस्त्रेण वेष्टनपुरस्सरं बन्धनम्। अधुनारभ्य बद्धमुष्टिभ्यामेव दम्पतिभ्यां सकलानि दैहिककार्याणि विधातव्यानि। तत औदग्रहणहोमः। कृष्णाजिनदीक्षानन्तरं मेखलाबन्धनम्। यजमानमस्तक उष्णीषबन्धनम्। पत्न्याः शिरसि जालबन्धनम्। सत्यामावश्यकतायां कण्डूयनाय यजमानस्योपवस्त्रप्रान्ते कृष्णमृगस्य शृङ्गबन्धनम्।

पत्न्याश्चोत्तरीयप्रान्ते प्रादेशपरिमितं यज्ञकाष्ठशङ्कुबन्धनम्। यजमानेन स्वमुख-परिमितमौदुम्बरदण्डग्रहणम्। एतावत्पर्यन्तं दीक्षाविधानम्।

दीक्षितनियमाः

ततो दम्पतिभ्यां परिपालनीयाः केचन नियमाः सूर्यास्तं यावद्वाग्यमनम्। अस्तमिते च तद्विसर्गः। सत्यं मधुरं सुसंस्कृतं च सम्भाषणीयम्। सत्यामनिवार्यपरिस्थितावेव त्रैवर्णिकेन वार्तालापव्यवहारः। दक्षिणेन विहारं दीक्षितागारे विहरणम्। अविच्छिन्नं ब्रह्मचर्यपरिपालनम्। मदन्तीसंज्ञकेनोष्णोदकेनैव दैहिककार्यनिवृत्तिः। आहाराय केवलं पयोग्रहणम्। तदपि प्रथमेऽहन्येकस्या गोरेकस्मादेव स्तनान्निर्गतं पयः। तच्च द्विधा विभज्यार्द्धं यजमानाय, अर्द्धं च पत्न्यै। एवमेव द्वितीये दिवसे द्विस्तननिर्गतम्, तृतीयेऽहनि च त्रिस्तननिर्गतं पयः। ततः सुत्याहे हविश्शेषग्रहणम्। आतपे न व्रजेत्। नक्तमेव मूत्रपुरीषोत्सर्गः। सत्यनिवार्ये दिवा च छायायाम्। न कुत्रचन प्रवसेत्। केवलं वनीवाहननिमित्तमेव यथासमयं यायात्। आह्निकं कर्म न कुर्यात्। न कञ्चनाभिवादयेत्। न कमपि प्रत्युत्तिष्ठेत्। एतदतिरिक्ता अन्येऽपि विधिप्रतिपादिताः साधारणनियमाः पालनीयाः। दीक्षितयजमानं प्रति सर्वेषां मानवानां परिरक्षणीया नियमाः—अग्निसेवनपरिपूतस्य यजमानस्य स्पर्शनिषेधः। एतस्याभिधानं न वाच्यम्। दीक्षितवासांसि न परिधेयानि। आहिताग्नेरशुभं कथमपि न कल्पनीयम्। दीक्षासंस्कारानन्तरं जायमानावभृथयागं यावन्निर्दिष्टानां नियमानां सर्वैरपि परिपालनम्। अथ सायं प्रतिप्रस्थात्रा दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति यागभूमावुच्चैर्निवेदितम्।

ततो यजमानेन स्वकण्ठदेशे नाभिमात्रावलम्बि-वर्तुलाकारं सौवर्णं रुक्म धारितम्। समनन्तरमेवाग्निसहितां शिक्यस्थामुखामपि कण्ठे धारयित्वा अवतार्य च पुरः स्थापितायामासन्द्यां स्थापितवान्। उखास्थं भस्मोद्वपनं सम्पाद्य विष्णुक्रमणं वात्सर्योपस्थानं च विहितम्। दीक्षाकाल एव यागोपयुक्तसाधनपुञ्जसञ्चयार्थं प्रयाणरूपं वनीवाहनसंज्ञकं कर्म समाचरितम्। एतत्कार्यपूर्त्यै साग्निकेनाहिताग्निना यागसंचालकस्य सविधे सविधि प्रतिस्थितम्।

महावीरसम्भरणम्

एतच्च प्रवर्ग्यापरपर्यासप्रसिद्धं कर्म। एतद्विधानाय मृत्तिकादिद्रव्येणाज्याधारम् उलूखलाकृति प्रादेशपरिमितमुच्चं मेखलाविशिष्टं मध्यसंगृहीतं गर्तवच्च यथोक्तं पात्रं

निर्मीयते। तत्पात्रनिर्माणरूपो विधिरत्र विहितः। ततो यथाकथितं यूपारोपणं वेदिमानं चितिनिर्माणस्थानमानञ्च। अस्तमिते समये सपत्नीकेन यजमानेन पयोव्रतग्रहणं विहितम्। तदर्थमेकां गां शालानिकटमानीय तस्या एकस्यैव स्तनस्य दुग्धं गृहीतम्। तच्च द्विधा विभज्य अर्धमध्वर्युणा गार्हपत्याग्नावधिश्रित्य यजमानाय, अवशिष्टं च प्रतिप्रस्थात्रा दक्षिणाग्नावधिश्रित्य पत्न्यै समर्पितम्। ताभ्यां च यथाविधि तत्पीतम्। एतावदेव दम्पत्योरहोरात्रस्याहार इत्यवधेयम्।

गार्हपत्यचयनम्

अध्वर्युणा गार्हपत्यस्थण्डिलस्यैकविंशतिसंख्याभिरिष्टकाभिश्चयनमाचरितम्। ताश्चेष्टका अष्टौ वक्रा सप्त पद्याश्चतस्रोऽर्द्धवृत्यो द्वे अर्द्धपद्ये च भवन्ति। गार्हपत्यस्य विस्तारस्तु चतुररत्निमात्रो मण्डलाकारमण्डितः। ततश्चात्वालान्मृदमानीय गार्हपत्यचितिं विलिप्य तत्रौख्योऽग्निः संस्थापितः।

तृतीयदिवसे **'प्रयान्ति स्वर्गमनयेति प्रायणीया'** इत्याप्तवचनमनुसृत्य प्रायणीयेष्टिराराधिता। अस्यामिष्टावदितिः, पथ्यास्वस्ति, अग्निः, सविता, सोमश्चेति पञ्च देवता भवन्ति। तत्रादित्यै चरुरन्येभ्य आज्यमेव द्रव्यम्। हविष्कृताह्वानान्तामेतामिष्टिं समाप्य षड्गवं सीरं सज्जीकृत्य चितिनिर्माण-स्थानस्वरूपाया अग्निक्षेत्रभूमेः कर्षणं कृतम्।

अथ कौत्सगोत्रेण ब्राह्मणेन समानीतो यागोपयुक्तो लतात्मकः सोमो गोविनिमयेन क्रीतः। ततोऽध्वर्युः क्रीतं सोमं शकटे निधायानडुद्भ्यामूढं शकटं शालानिकटं समानीय संस्थापितवान्। शकटात् सोममवतार्य यज्ञशालायां संस्थापितायामासन्द्यां रक्षितवान्। मधुपर्कार्चनविधिना सोमस्यार्चनम्। सोमसत्काराय चातिथ्येष्टेरनुष्ठानम्। यस्यामिष्टौ विष्णुदैवत्यो नवकपालेषु पुरोडाशो विहितः। ततश्चात्वालमानादिकं कार्यम्।

यागसमापनप्रतिज्ञा

अथ तानूनपत्रसंज्ञको विधिरनुष्ठितः। अस्मिन् कर्मणि सयजमाना ऋत्विजस्तानूनपत्रसंज्ञकमाज्यं स्पृशन्ति। अनेन समन्त्रकाज्यस्पर्शरूपविधिना ऋत्विग्भिर्मिथो द्रोहेर्ष्याद्वेषादिरहितैरेकतानैर्यागविधानस्य साङ्गोपाङ्गं समाप्त्यर्थं सशपथं स्वीकृतिरुद्घोष्यते।

प्रातःप्रवर्ग्यप्रचारः

एतदनुष्ठानं यजमानपत्न्या नावेक्षणीयमिति प्रथमं सर्वाण्यपि शालाद्वाराणि पिहितानि। अत्र प्रचण्डज्वालापुञ्जमण्डितेन वह्निना मण्डपहानिर्मास्त्विति हेतोरनुष्ठानमेतच्छालाया बहिर्देशेऽनुष्ठीयते। अस्मिन् कर्मणि तेषु गार्हपत्यादुत्तरेण प्रथमः, आहवनीयादुत्तरेण द्वितीयः, अग्निशालाया दक्षिणद्वारनिकटे तृतीयश्च। तत आहवनीयं दक्षिणतो महावीरासन्दीं संस्थाप्य तस्यां महावीरद्वयं स्थापितम्। गार्हपत्यादादीप्तान् मुञ्जप्रवालान् खरे संस्थाप्य तत्राज्यपूरितं महावीरपात्रं स्थापितम्।

अत्र होत्रा समुच्चारितेषु ऋङ्मन्त्रेषु प्रतिप्रणवं महावीरपात्रेऽध्वर्युः स्रुवेणाज्यमासिक्तवान्। अत्र प्रतिप्रस्थातृकर्तृकं रौहिणपुरोडाशनिर्माणम्। अध्वर्युणा च दक्षिणरौहिणपुरोडाशहोमः। ततः शालाया दक्षिणद्वारनिकटे गोदोहनमजादोहनञ्च। परीशासधारितं साज्यं महावीरपात्रं गृहीत्वाध्वर्युप्रतिप्रस्थातृभ्यां शालाया बहिर्देशगमनम्। तत्रैकस्मिन् विपुले पात्रे महावीरपात्रस्थापनम्। उपयमन्या महावीरपात्रेऽजापयःप्रक्षेपः। अत्र सन्तप्ते घृतेऽजापयःप्रक्षेपसमकालमेव परमप्रचण्डा ज्वाला समुद्भवति। तस्यामवस्थायामपि प्रतप्ताज्यपूरिते महावीरपात्रेऽध्वर्युकर्तृकं सन्ततं पयःसेचनं प्रचलितमेव। ततः क्रमशः प्रशान्तायां ज्वालायां गोपयःप्रक्षेपः, ततः पूर्ववत्परीशासधारितेन महावीरपात्रेण साध्वर्युप्रतिप्रस्थातृभ्यां यज्ञशालायां समागत्य प्रवर्ग्यविधिः समापितः। तत उपसदिष्टिः। अत्राग्निसोमवरुणा देवताः। आज्यमेव द्रव्यम्।

इष्टकाभिश्चितेश्चयनम्

अथाध्वर्युकर्तृकं प्रथमद्वितीयचित्योश्चयनम्। तत्र प्रथमायां चितौ सप्तविंशत्युत्तरं सहस्रद्वयमिष्टकाः। तासु सप्तसप्ततिर्यजुष्मत्यः। एकोनत्रिंशदुत्तरमेकोनविंशतिशतं लोकम्पृणाः। द्वितीयायां चितावेकनवत्युत्तरमेकोनविंशतिशतमिष्टकाः। तत्रैकचत्वारिंशद् यजुष्मत्यः। पञ्चाशदुत्तरमेकोनविंशतिशतं लोकम्पृणाः। अथ सायं प्रवर्ग्यप्रचारः। सायमयःशयोपसदिष्टिश्च। अस्यां चितावग्न्युपधानं यावत्प्रत्यहमश्वपरिणयनविधानम्। चयनानन्तरं मृदा सन्धिपूरणविधिश्च।

चतुर्थदिवसे प्रातः प्रवर्ग्येण प्रचर्य रजःशयोपदिष्टिविधानम्। तत इष्टकाभिस्तृतीयचितिचयनम्। अस्यां तृतीयायां चिताविष्टकानां संख्या विंशत्युत्तरं सहस्रद्वयम्। तत्र सप्ततिसंख्यामिता यजुष्मत्यः। पञ्चाशदुत्तरमेकोनविंशतिशतञ्च

लोकम्पृणाः। चयनानन्तरं चितेश्चयनम्। अस्यां चितौ समस्तानामिष्टकानां संख्या सप्तनवत्युत्तरमेकोनविंशतिशतात्मिका। तासु सप्तचत्वारिंशद् यजुष्मत्यः। पञ्चाशदुत्तरमेकोनविंशतिशतं लोकम्पृणाः। ततः पूर्ववन्मृत्तिकया सन्धिपूरणादि-विधिः। पञ्चम्याश्चितेश्चयनम्। अस्यां चिताविष्टकानां संख्याः सर्वाभ्यः पूर्वचितीष्ट-काभ्योऽधिकाः। तच्च पञ्चत्रिंशदुत्तरमेकशतं सहस्रत्रयञ्च। तत्र पञ्चत्रिंशदुत्तरमेकशतं यजुष्मत्यः। सहस्रत्रयं च लोकम्पृणाः। चयनानन्तरं यजमानकर्तृकं चितेरुपस्थानम्। अश्वपरिणयनम्। ततोऽध्वर्युकर्तृकं सहस्रसंख्यापरिमितस्रुवाशकलैश्चितेः प्रोक्षणम्। अत्रैव प्रवर्ग्येण प्रचर्योपसदिष्टेरनुष्ठानम्।

शतरुद्रियहवनम्

पञ्चमदिवसे शतरुद्रियहवनविधानाय चितेरुत्तरपक्षप्रान्ते संस्थापितासु जानुनाभिमुखमात्रासु परिश्रित्सु हवननिमित्तमग्निं संस्थाप्य गवेधुकासक्तु-मिश्रितैर्जर्तिलैरर्कपर्णेनाखण्डरूपेण होमो विधीयते। पूर्वमनुलोमक्रमेण हवनं समाप्य ततः प्रतिलोमक्रमेणापि होमो विहितः। अथ समाप्ते हवने तत्साधनभूतमर्कपत्रं चात्वाले प्रक्षिप्तम्। ततश्चितेः परिषेचनानन्तरमात्मविकर्षणम्।

प्रवर्ग्योत्सादनविधिः

अस्मिन् विधौ प्रवर्ग्यकर्मण्युपयुक्तानां समस्तानामासन्दीसहितानां पात्राणां क्रमेण चितौ संस्थापनम्। ततोऽग्निप्रणयनम्। एतदर्थं प्रकृतिशालाया आहवनीयादग्निमुद्धृत्य यथाविधि चितौ स्थापनम्। इतः प्रभृति प्रकृति-शालास्थितस्याहवनीयस्य गार्हपत्यरूपता।

ततो हविर्द्धानप्रवर्तनं मण्डपमानं च। उपरवसंस्कारः। विधिपूर्वकं समानविनिर्मितस्य मुखचतुष्टयसहितस्यैकस्य गर्तस्य 'उपरव' इति नाम। एतस्योपरि काष्ठफलकद्वयं संस्थाप्यते। तयोः काष्ठफलकद्वयो-रुपर्यनडुच्चर्मास्तीर्यते। तस्मिंश्च पाषाणस्थापनम्। अत्रैव पाषाणे सोमाभिषवो विधीयते। अथ यथाविहितेन विधिना सदोमण्डपनिर्माणम्। ततो वैश्वानरमारुतयागौ। अत्र वैश्वानराय द्वादशकपालेषु पुरोडाशः। मरुद्भ्यः सप्त पुरोडाशाः। प्रतिपुरोडाशं सप्त कपालानि। ततो वाजप्रसवीयहोमः। एवं पार्थहोमराष्ट्रभृद्धोमवात-होमनवाहुतीनामनुष्ठानम्। ततः पञ्चम-चितिचयनादवशिष्टाभिरिष्टकाभिः सर्वासां धिष्ण्यानां चयनम्। अग्नीषोमीय-वपायागानन्तरं पशुपुरोडाशेन सह देवसूहविर्यागं विधायाग्नीषोमीयविधिमापनम्।

प्रधानदिवसविधिः

षष्ठदिवसे सुत्यादिवसकार्यारम्भः। मुख्यतमोऽयं दिवसः। अत्रापररात्रौ ऋत्विक्प्रबोधनम्। तत्रादौ लोकद्वारसंज्ञकं सामगानम्। अथ सहस्रमन्त्रात्मकः प्रातरनुवाकपाठः। सवनीयनिर्वापः। उन्नेतृकर्तृकं पात्रयोजनम्। महाभिषवक्षुल्लकाभिषवसंज्ञकौ सोमाभिषवौ। ग्रहाणां ग्रहणं होमश्च। विप्रुड्होमप्रातःपवमानपाठप्रैषदानग्रहावेक्षणविधानानि। सुत्यापशूनामुपाकरणानि। अत्राग्निदैवत्योऽजः। ऐन्द्राग्नोऽजः। इन्द्रदेवताकोऽजः। सारस्वती मेषी च। एवंविधानां चतुर्णां पशूनामुपाकरणानि। सप्तहोतॄणां वरणं वपायागाश्च। प्रातःसवनारम्भानन्तरं मण्डपाद्युपस्थानम्। प्रातःसवनीयपुरोडाशयागो ग्रहहोमश्च। शुक्रामन्थिग्रहप्रचारो होतुराज्यशस्त्रशंसनं होमश्च। माध्यन्दिनसवनीयनिर्वापपशुपुरोडाशौ, स्तोत्रोपाकरणं होतुः प्रउगशस्त्रशंसनं च। अथान्येषां स्तोत्रशस्त्रानन्तरं प्रातःसवनसमाप्तिः। अथोपस्थानाभिषवविधानानि। दधिघर्मप्रचारपशुपुरोडाशयागौ। ऋत्विग्भ्यो यथाविहितं दक्षिणादानम्।

स्तोत्रशस्त्रारम्भः

तत्र प्रथमं होतुर्मरुत्वतीयशस्त्रं निष्कैवल्यशस्त्रं च। अथ होतॄणां शस्त्रशंसनानि। अत्र रथन्तर-बृहद्-वैरूप्य-वैराज-शाक्वर-रैवत-षष्ठेषु रथसंसारण-दुन्दुभिशब्दव्यजनैरुद्गातृनामकस्यर्त्विज ऊरावरणिं संस्थाप्याग्निमन्थनेन, सावकयोदपात्र्या, सांवाशिनेन चोपाकरणविधानानि। ततः शुष्काभिषवतृतीयसवनविधानानन्तरं माध्यन्दिनसवनसमापनम्।

अथ मण्डपाद्युपस्थानाङ्ग्यागप्रस्थितयागाः। सवनप्रार्थना। ऋत्विग्भिः सह यजमानेन पितृभ्यः पिण्डदानविधानम्। धिष्ण्यहोमः। स्तोत्रशस्त्रारम्भः। अत्र तृतीयसवनसमाप्तिः। तत उक्थ्यस्तोत्रस्तवनं शस्त्रशंसनं च। षोडशीसामशस्त्रयागाः। ततस्त्रयो रात्रिपर्यायाः। सन्धिस्तोत्रस्तवनम्। ततोऽग्रिमविधानाय सूर्योदयस्य नितान्तमावश्यकत्वात्तत्प्रतीक्षायामेव षष्ठदिवसविधानसमाप्तिः।

सप्तमदिवसे सञ्जाते किल प्राभातिके सूर्योदये प्रथमदिनावशिष्टस्याश्विनशस्त्रस्य शंसनम्। अथाप्तोर्यामस्यातिरिक्तस्तोत्रशस्त्रपाठः। पात्रप्रक्षालनविधिं विधायानुयाजाः। वाजिनयागद्रोणकलशप्रचारौ। गार्हपत्याग्नौ पत्नीसंयाजानुष्ठानम्। समष्टियजुःसंज्ञकहोमः।

अवभृथयागः

अवभृथयागानुष्ठानम्। एतत्सम्पादनाय ग्रन्थेऽस्मिन् सोमलिप्तपात्र-वारुणपुरोडाशाज्यादीन्यावश्यकवस्तूनि समादाय यजमानसहिता ऋत्विजो नदीतटं प्रयान्ति। तत्र नदीजले वारुणयागं विधाय पुनरपि यथागतं यागभूमिं प्रत्यायाताः। विहारे समागत्योदयनीयेष्टेरनुष्ठानम्। आज्यभागयागानन्तरमग्निसोमसवितृ-पथ्यास्वस्तिभ्य आज्याहुतयः। पूर्वसम्पादितप्रायणीयेष्टेरवशिष्टचरुणाऽदितियागः।

मैत्रावरुणी (अनुबन्ध्या)

अयं मित्रावरुणदेवतानिमित्तकः पाशुको यागः। 'अथात्र मैत्रावरुणोऽव-शामनूबन्ध्यामालभते' इति शतपथोक्तदिशा गोरालम्भनं विहितमस्ति। कलिकाले च तद्वर्ज्यमिति प्रतिनिधिरूपाजैवात्रालभ्या। तत उदवसानीयेष्टिः। अस्यामिष्टौ पञ्चकपालेषु आग्नेयः पुरोडाशः। ततो मैत्रावरुणः पयस्यायागः। ततः कर्माङ्गदेवताभ्यः कर्मनिवेदनम्। शुभकामनाशीर्वादाः। यज्ञसाङ्गतायै सहस्रब्राह्मण-सन्तर्पणं सङ्कल्प्य यागसमाप्तिर्निवेदिता। एवम्प्रकारेण परमाप्ताचारपरम्परा-परिप्राप्तस्य सप्तदिवसानुष्ठितस्य साग्निचित्सार्वपृष्ठाप्तोर्यामयागसम्बद्ध-कृत्यजातस्य दिग्दर्शनमिति शुभम्।

यज्ञेन पर्यावरणशुद्धिप्रक्रिया

वेदोक्तयज्ञादिककर्मजातैर्निसर्गतः शुद्धमिदं हि विश्वम्।
परम्परायामपि रक्षितायां भवेत्तु पर्यावरणं पवित्रम्॥

यस्मिन् वातावरणे वयं निवसामः, जलं पिबामः, भोजनं कुर्मः, पुष्पं जिघ्रामः, तदेव वातावरणं पर्यावरणमुच्यते। पर्यावरणं बहुप्रकारकं भवति। परितः सर्वत आवरणं पर्यावरणमुच्यते। यैः प्राकृतिकवस्तुभिर्वयं परितो व्यापृता भवामः, तदेव वस्तु पर्यावरणं कथ्यते। अद्य समग्रमपि यद् वस्तुजातं तद् वस्तु दूषितं जातम्, तेन पर्यावरणमपि कथं शुद्धं भवेत्। अतोऽस्माकं समेषां परं कर्तव्यमस्ति यत् समग्रं पर्यावरणं परिशोधनीयम्।

तद्यथा प्राणिनः परितो यद् वायुमण्डलं वर्तते, तद् वायव्यपर्यावरण-मुच्यते। तत्र वायुप्रदूषणं न केवलं प्राणिनां स्वाभाविकप्रश्वासेन, मलमूत्राद्युत्सर्गेण च भवति, अपि त्वद्यत्वे विविधयन्त्रसञ्चालितवाहनेभ्यो विमान-लौहशकट-रेल-

मोटरयानादिभ्यो यन्त्रकार्यशालादिभ्यश्च निर्गतैर्दूषितधूमपुञ्जैरपि तद्दूषितं जायते। तदुक्तं केनापि—

वैज्ञानिकेऽपि कालेऽस्मिन् विभिन्नाकारवत्यपि।
नियन्त्रणं विधातव्यं दूषणस्य ध्वनेरपि॥

पर्यावरणरक्षार्थं जलशुद्धिरपेक्षते।
पानीयशुद्ध्यभावे हि प्रकृतिर्दूषणायते॥

पर्यावरणस्य रक्षार्थं सर्वैरेव प्रधानतः।
चिन्तनीया सुरक्षा प्राग् ओजोनमण्डलान्तरे॥

ओजोनमण्डलेनात्र शोष्यन्ते सर्वतो दिवि।
दिवाकरस्य सन्तप्ता हानिकारकरश्मयः॥

तस्मादेव समस्येयं विश्वविध्वंसकारिणी।
समाधेया प्रयत्नेन जगत्कल्याणकारिभिः॥

तदर्थमचिरादेव राष्ट्रेऽस्मिन् सर्वथा खलु।
वैज्ञानिकानुसन्धानं सर्वत्रैव विधीयताम्॥

एतदर्थं विशेषेण राष्ट्रस्य परिरक्षणम्।
चिन्तनीयं प्रयत्नेन शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना॥

सघनजनगणोपेतेषु नगरेषु तु अहर्निशमितस्ततो धावद्भ्योऽसंख्यवाहनेभ्यो यो दूषितधूमसमूहो बहिर्निस्सरति, स मनुष्यादिप्राणिनां श्वासेन अन्तःप्रदेशं सम्प्राप्य तं विकारग्रस्तं करोति, येन प्राणिनो विभिन्नप्रकारकहृद्रोगग्रस्ता जायन्ते। एवमेव वृक्षवनस्पत्योषधीनामपि महती हानिरेतेन वायुप्रदूषणेन भवति। दुर्गन्धादिविकारग्रस्तो वायुर्न कस्मैचिदपि रोचते। अस्यां जनसंख्यावृद्धौ सत्यां कथं पर्यावरणं शुद्धं भवेद् इति चिन्तनीयम्?

अधिविश्वं नैसर्गिका नियमा अप्रतीकार्या यावच्च तेषां पालनमेव तावद् जगतः स्थितिः, तस्य संवर्धनादिकं नैसर्गिकम्; परन्तु हा हन्त! स्वार्थप्रमादमोहाविला विलासैकशरणा नराः प्रकृतिमतिक्रम्य किमपि अमानवीयं व्याहरन्ति, तदानीं कुपितया प्रकृत्या ते दण्ड्यन्ते, उपचयापचययोः। अतिरेकस्य सर्वथा अनैसर्गिकत्वात्, परस्परं सम्पूर्तिर्हि प्राकृतिकाः। तदुक्तं महाकविना—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।[1]

तदानीं तु सर्वत्रालुब्धैर्मनुष्यैर्निसर्गत एवाक्रान्ताः, अतश्च स्वभावतस्तत्पूर्तिः साम्प्रतं प्रयत्नेनाप्यसाध्या, अतः समस्याकुलः। जलवायुर्ध्वनयश्च स्वकीयां वास्तविकां शुद्धतां परित्यज्य वैपरीत्यं भजन्तः स्वसन्तुलनमपि विनाशितवन्तः, तेन च अस्माकं जीवनं कष्टोत्कटम् अशान्त्युपहितं जातम्। एतत् समाधानस्य इच्छाविषयकत्वेऽपि कृतिविषयता न दृश्यते, तेन च कष्टवृद्ध्या विषमा परिस्थितिः, सा च वैदिकोपायैः शोधयितुं शक्या इत्यस्माकीनः समयः।

जगति प्रदूषणस्य किल लोकव्यापिनी स्थितिः काचिदस्ति साम्प्रतम्। प्रदूषणं किल अर्वाचीनसमाजप्रसूतम्। तेन समाजेन सत्समाजस्य रचनैव प्रदूषणस्य निवारणमिति सर्वेषां मतम्।

अनल्पैरुपायैर्मानवेन स्वश्रेष्ठताऽसाधि, यथा समस्येति प्रयोजनं यथेच्छं च वातावरणादिसंशोधनेऽपि स्वयोग्यता प्रादर्शि; परन्तु अनवधानादिना प्रदूषणं तदवस्थमेव न तत्र किमपि यतितं केनापि, यत्तु पर्यावरणविकासोऽपि स्वायत्त इति तत्तुच्छम्, तत्रापि परिवर्तनमावश्यकं प्रदूषितत्वात्।

सृष्टिरियं कामपि प्रकृतिम् आश्रयति, सा च दुरुपयोगवशात् कृत्रिम-नियमसञ्चालिता सती पर्यावरणं प्रदूषणगर्ते पातयति।

'कारणं चिकित्स्यं स्यात्, न तु कार्यम्' इत्यस्ति आर्षसमयः। एवञ्च पर्यावरणशुद्धये अपि पर्यावरणदूषणस्य कारणान्यपाकर्तुं प्रयत्नो विधेयः, कारणस्य निर्दोषत्वे कार्यस्यानिर्दोषत्वं स्यात्, कार्यगुणा आरभन्त इति नियमात्। एष कार्यकारणनियम एव यज्ञः, यत्र प्रकृत्या एव पर्यावरणं परिरक्ष्यते।

अत्रायं सिद्धान्तः—जगतोऽग्नीषोमात्मकत्वेन यज्ञस्यापि तथात्वम्, तत्र अग्निस्तु प्रत्यक्षमेव आज्यं सोमः, आज्यं नाम संस्कृतं हवनीयवस्तुमात्रं तिलतण्डुलादि। अग्नीषोमात्मिकैव जगतो वास्तविकी स्थितिः, सा च इत्थमेव। मानवेषु अग्निसोमात्मकता च पञ्चकलाधिका सप्तनवतिरिति आधुनिक-चिकित्सासमयः। वैश्वानरोऽयमग्निरिति वेदसमयः। एतत्-स्थिति-साधक एव यज्ञः, स च अहर्निशं प्राकृतिकः, अतश्च सौरमण्डलमिदं यज्ञात्मकम्।

प्राकृतिकेऽस्मिन् यज्ञे आ च बीजारोपाद् अङ्कुरोद्गमात् प्रभृति फलपाकपर्यन्ता प्रक्रिया यज्ञः, सृष्टिस्थितिप्रलया इति पौराणिकसमयः। जायते,

---

१. रघु. ४.८६।

अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षीयते, नश्यति, इमे षड्विकारा इति दर्शनसमयः। एषा च प्रकृत्यात्मिका यज्ञप्रक्रिया स्वयं सम्पद्यमाना। अतश्च इतरेभ्यो विलक्षणा इति दिक्।

प्रकृतिपर्यावरणयोः सामञ्जस्यं हि वैदिकसमयः, प्रकृत्या मैत्री, न तु द्रोह इत्याहुस्तत्त्वचिन्तकाः, अपरत्र उत्पादनवृद्ध्या प्रकृतेर्दोहनशोषणाभ्यां विनाश उपपद्यते, अनया पाश्चात्याभिमतक्रान्त्या। किञ्च न केवलं भूः, अपि त्वन्तरिक्षमपि साम्प्रतं दुर्निरीक्षम्। किञ्च आधुनिकता प्रगतिव्याजेन सभ्यंमन्यानां जीवनम् अप्राकृतिकं कृत्रिमं च जातमिति दिक्। अपरत्र **'यावद् गृहीतं तावत् प्रतिदत्तम्'** इत्यस्ति वैदिकसमयः। तदुक्तं होतृवेदे—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्रण आयूंषि तारिषत्।[1]
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।[2]
ततो नो देहि जीवसे।
द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः।[3]
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥[4]

एतैर्मन्त्रैरेतत् प्रार्थ्यते यद् वायुर्देवोऽस्मभ्यं सुखं शान्तिं च सर्वथा यच्छतु।

उभयोः सन्ध्योः समिधादानेन कृतेन होमेन दिव्यं च वातावरणम् ऋषिभिः संशोधितम्। 'आ च वनस्पतिभ्यः, आ च पशुपक्षिणो यावत् सूक्ष्मतमानामपि जीवनविकासः' इत्यस्ति पर्यावरणपरिभाषासारः। न च तथा अद्यत्वे भवतीति नितरां खेदास्पदम्। एवञ्च प्रकृतिलभ्यानि ऊर्जासाधनानि तथा प्रयोक्तव्यानि, यथा तेषां नाशो न स्यात्। तेषाम् अल्प उपयोगो महते क्षेमाय सम्भविष्यति, पर्यावरणमपि विषोल्वणं न जायते। हा हन्त! जीवनं खलु जीवनम्; परन्तु साम्प्रतं जीवनावसादकं तज्जातम् इत्यसाम्प्रतम्।

यदा केनचिन्निमित्तेन वापी-कूप-तडाग-सरस्समुद्रादिजलं दुष्यति, तदा

---

१. ऋ., १०. १८६.१; २. ऋ., १०. १८६.३; ३. ऋ., १०. १३९.२। ४. ऋ., १०. १३७.३।

जलपर्यावरणं दूषितं जायते। दूषितस्य जलस्य प्रयोगेण मानवाः पशवश्च रुग्णा जायन्ते, वृक्षेष्वपि तादृग् जलस्य दूषणप्रभावो भवति।

अतो जलीयपर्यावरणस्य दोषापसारणमावश्यकमस्ति। महदाश्चर्यमेतद् यद् गंगायमुने अपि दूषिते जाते। अथर्ववेदे जलसंशोधनार्थं बहवो मन्त्रप्रयोगाः सन्ति। यथा—

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः॥[1]

शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्या।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः॥[2]

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामयो उक्षतु वर्चसा॥[3]

अनेकेषु स्थलेषु जलचिकित्साया वर्णनमप्युपलभ्यते। यथा ऋग्वेदे—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुमापश्चविश्वभेषजीः॥[4]

अथर्ववेदे यथा—

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे।[5]

अन्यत्र यथा—

ईशानां वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। आपो याचामि भेषजम्।[6]

अधुनेदं साध्यते यत् पृथ्वीमानवयोः सामञ्जस्यं पर्यावरणम्। प्रसिद्धं खलु यद् वनेन रक्षितः सिंहः सिंहेन रक्षितं वनमिति परस्परसम्बन्धेन पर्यावरणसिद्धिः। प्राणाः किल जीवितस्य निदानम्, अत एव जीविताः प्राणिन इत्युच्यन्ते, प्राणाश्च वायव एव तेषु दूषितेषु जीवहानिः, सर्वथा कार्यकारणभावप्राप्तिः, तस्माद् वायूनां शुद्धत्वं पर्यावरणस्य मुख्यलक्षणम् एव, जीवनस्य कृते जलं तथैव आवश्यकम्। साम्प्रतं पाश्चात्यप्रभावात् तन्त्र तथेति भारतीय-प्राचीनार्षवाङ्मये प्रतिपादित-यज्ञपद्धत्या एव पर्यावरणशुद्धिः सिद्धा, येन मानवानां सुखसमृद्धिवृद्धिः।

---

१. अथर्व., १९.२.१; २. अथर्व., १९.२.२; ३. अथर्व., १९.२.८।
४. ऋ., १.३.२०; ५. अथर्व., १.६.३; ६. अथर्व., १.५.४।

यत्तु यज्ञानुष्ठानं निःश्रेयसे, तत्रेदं तथ्यम्—पारमाणविकेषु विस्फोटेष्वपि गव्यानाम् आविष्कृतिः, गोमयोपलिप्तेषु रेडियोधर्मिताप्रभावः, गोमूत्रस्य च चर्मरोगापसारित्वम्। तदुक्तम्—**'गावो विश्वस्य मातरः'**। पर्यावरणशुद्धेरपि वृक्षाणां कृतेऽपरिहार्यत्वं स्पष्टमेव। तदुक्तम्—**'दशपुत्रसमस्तरुः'**। तरु-शब्दस्य व्युत्पत्तिस्तु **'तारयति जनान् दुःखसागराद् इति तरुः'**।

यत्तु जीवनाय परमावश्यकम् अद्यत्वे 'आक्सीजनम्' इत्युच्यते, तत्सर्वमपि वृक्षेभ्यो लभ्यम्। तत्रापि अश्वत्थवृक्षात् सर्वाधिक्येन प्राप्यते। पर्यावरणं नाम परि आ उपसृष्टात् 'वृञ्' वरणे धातोर्भावसाधनो लुडन्तोऽयं शब्दः। एवञ्च न खलु एकदेशावच्छेदेन अपि तु सर्वदेशावच्छेदेन या शुद्धिस्तदात्मकं हि पर्यावरणम्। तच्च प्रकृत्यात्मकम्, तस्यैव प्रसङ्गप्राप्तत्वात्। एतेन पर्यावरणं नाम परब्रह्मेति।

ब्रह्माण्डमिदं समग्रेण पञ्चतत्त्वात्मकम्। तत्र सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति सांख्यदर्शनदर्शितदिशा, तादृशी प्रकृतिरेव जगतां कारणम्, विषमावस्थायां तु जीवहानिप्रसङ्ग इति दिक्।

व्योम्नि ध्वनिमाध्यमेन वायोर्गैसात्मकत्वेन, सूर्यादितः किरणमाध्यमेन, आग्नेयतत्त्वानां पृथिवीं प्रविष्टेः पर्यावरणविपर्ययाद् अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिभिः पृथ्वीयं प्रदूष्यत इति प्रत्यक्षमेव प्रेक्षावताम्। एतत् सर्वमपि अकिञ्चित्करं वैदिकदिशा।

वेदानुसारं सृष्ट्यारम्भे पञ्चतत्त्वानां दोषग्रस्तत्वात् तत्पारम्पर्येण तादृश-सामाजिकानामपि सुव्यवस्थितत्त्वेन पर्यावरणप्रदूषणाभावात् पृथ्वीयं धनधान्यसम्पन्ना सती सुखविधात्री भविष्यति। पर्यावरणस्य नैतत्य-सातत्य-सिद्ध्यै एव यज्ञा उपदिष्टाः। यज्ञानुष्ठानेनैव पर्यावरणशुद्धिर्भवति। अयं खलु ऋषीणाम् अनुभवो यत्प्राणिनां श्वास-प्रश्वासादिभिर्वायौ प्रदूषिते सति जीवतां जीवनसंशय इति, तन्निवृत्त्यै व्यापका यज्ञा विहिताः। तदुक्तम्—

'यज्ञो वै विष्णुः' विष्णुर्नाम व्यापकः।

यज्ञेन पर्यावरणशुद्धिप्रक्रिया तु गीतायाम् अपि गीता। सा चेत्थम्—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (३.१४)

मनुस्मृतावपि—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

पृथ्वीपर्जन्यौ नो मातापितरौ स्तः, तथा च आथर्वणश्रुतिः—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

पर्जन्यौ पिताऽसौ नः पिपर्तुः।

वस्तुतः सृष्टिप्रकृत्योर्यज्ञः, स एव श्रेष्ठतमं कर्म, तथा च वेदभाष्यकारा आहुः—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'** तत्र तादर्थ्यलक्षणाया यज्ञद्वारा पर्यावरणशुद्धिरेव श्रेष्ठतमं कर्म। सम्पूर्णप्राणिनां रक्षकत्वाद् यज्ञो नाम प्रजापतिः, प्रजाः पाति पारक्षणे, प्रजाशब्दश्चायं प्रजायन्त इति व्युत्पत्त्या जन्यपदार्थमात्रपरः। यथा—

'स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे' इति कादम्बर्या मङ्गलाचरणे दृश्यते। एवञ्च जन्यानां पदार्थानां तरुगुल्मतृणधान्यपशुपक्षिमानवादीनां समेषां रक्षकत्वेन यज्ञ एव प्रजापतिः।

यज्ञद्वारा पर्यावरणशोधनप्रक्रिया इत्थम्—यद् यज्ञोपक्षिप्ता हवनीयपदार्थाः सूक्ष्मातिसूक्ष्माः सन्तो वातावरणं व्याप्नुवन्ति। एवमेव जीवनप्रदायिन्यो घृतादिसहिता ओषधयः स्वगुणगणैः पर्यावरणं पवित्रयन्ति। तथा च आथर्वणश्रुतिः—**'यस्ते गन्धः पृथिवी सम्बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः'**। किञ्च यज्ञेन धनधान्यपुष्टिरपि भवति। इत्थं पर्यावरणस्य अर्थात् प्रकृतिजीवयोः सामञ्जस्यस्य नैरन्तर्यस्य च यो रक्षकः, स एव वैदिको यज्ञ इत्यार्षः सिद्धान्त इति दिक्।

नानाभौतिकसत्पदार्थनिचयैर्नानौषधिप्राञ्जलै-
र्नानाद्रव्यसमाढ्यतण्डुलमुखैराज्यैः समस्तैरपि।
आग्नावाहुतिमाध्यमैर्मुहुरहो यज्ञे मुदा हूयते
सत्पर्यावरणस्य रक्षणमहो येन ध्रुवं सम्भवेत्।। इति।

निष्णाता श्रुतिशास्त्रतर्कजलधावाचार्यलब्धप्रभा
मित्ताली कुरुते प्रियस्य पृथिवीराजस्य पत्युर्मता।
यज्ञे तन्त्रसुधानिधिं बहुविधश्रौतप्रबन्धानुगं
ग्रन्थं पूर्वकृताश्वमेधविषयोत्कृष्टप्रबन्धा मुदा।।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
ख्रैस्ताब्द-२००१

मिताली देव
एच-९, एच. आई. जी. फ्लैट्स,
विकास प्राधिकरण,
रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन,
वाराणसी - २२१००५ (उ.प्र.)

।।श्रीगुरुः शरणम्।।

।। यज्ञतन्त्रसुधानिधिः ।।

।।श्रीगणेशाय नमः।। श्रीयोगेश्वर्यै नमः।।

[हस्तलेखे (मूलपाण्डुग्रन्थे) प्रमादजन्याः पाठा अस्माभिः संशोध्य मूलपाठे निवेशिताः, प्रमादपाठास्तु तत्तत्स्थाने पादटिप्पण्यां निदर्शिताः।]

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः[१] स्युस्तं नमामि गजाननम्।।१।।

सत्सूत्रोचितशाखतागममहारत्नं निधानं गिरां
प्रत्युक्तिं तमुपास्महे वयममी[२] बोधाय बौधायनम्।
यद्वाग्भावमवध्यबद्धमहतीं[३] प्राप्याध्वराम्भोनिधेः
पारं यान्ति मनीषिणो बहुविधैस्तन्त्रैस्ततस्योर्मिभिः।।२।।

सूर्याचन्द्रमसौ प्रकाशवपुषावास्तां जगच्चक्षुषी[४]
ताभ्यामन्वितयोर्द्वयं[५] समुदभूत्तत्राविरासीद्यदुः।
वंशे चान्द्रमसे तदन्वयनिधिः सोमोऽभवत्सन्नृप-
स्तस्मात्प्रादुरभूदभीष्टसुरभिः[६] श्रीबुक्कपृथ्वीपतिः।।३।।

हरिहरनिभभूपो कामदोऽभूज्जगत्यां
हरिहर इह पालस्तस्य भुल्लस्तनूजः।
परिणमति धरित्री यस्य कीर्तिप्रताप[७]-
प्रभवपरिणताहैर्व्यक्तनक्तं[८] दिनश्रीः।।४।।

---

१. कृतकृत्या। २. बलममी। ३. यद्वाङ्।
४. चक्षूषी। ५. ताभ्यामन्वतयोः। ६. दभिष्ट।
७. कीर्तिः प्रताप। ८. परिणाहैव्यनक्तं दिनश्रीः।

मण्डले चक्रपालस्य[१] मण्डलाऽऽस्ते[२] च तीक्ष्णता।
विदुषां कम्पयन् चातिविद्विषां च शिरांसि यः॥५॥

समधिकविभवश्रीः सत्क्रियाभिर्द्विजानां
हरिहरनरपालः कस्य न स्यात्प्रशस्यः[३]।

अवितथगतिभिर्यद्दानधारासरिद्भि-
र्नवनवपरिणेता वर्धते सिद्धिराजः॥६॥

यस्याभूदन्वयगुरुस्तत्र सिद्धान्तदेशतः।
सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः[४]॥७॥

उपेन्द्रस्येव यस्यासीदिन्द्रः सुमनसां प्रियः।
महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः॥८॥

यस्मिन्निःश्वसितं श्रुतिर्बहुविधा व्यासावतारे स्वयं
व्यासक्तां पुनरध्वरश्रुतिफलां बौधायनात्मा व्यधात्।
कल्पाध्वक्रमतः[५] प्रयोगसुलभाँस्तान्विप्रकीर्णान्बहू-
नेकीकृत्य स्वयं हरिः समजनि श्रीसायणार्यः[६] क्षितौ॥९॥

सप्त कुर्वन्महादानान्याम्नायोक्तान्यनुक्रमात्।
तुलापुरुषदानेन भूसुरान्समतोषयत्[७]॥१०॥
यस्मिन्महोत्सवे[८] सन्तः प्रशंसन्तस्तदद्भुतम्।
उपासत तदैकात्म्यादुन्नतः श्रीपरिच्छदः॥११॥
स तैः प्रकाशितोपान्तः प्रकाशात्मा व्यरोचत।
प्रभाकरस्तु भारूढः प्रांशुर्ज्योतिर्गणैरिव॥१२॥
ते तपस्तेजसां राशिमासीनं परमात्मने।
सर्वज्ञं[९] सायणाचार्यं पर्यपृच्छन्सभासदः॥१३॥

---

१. चकृपालस्य। २. मण्डलास्ते। ३. प्रशस्य।
४. मापणार्य। ५. क्रमत। ६. श्रीसायणाचार्यः।
७. भूसूरसमतोषयत्। ८. यस्मिन्महेत्सवे। ९. सर्व।

अधीताः सकला वेदास्ते च दृष्टार्थगौरवाः[1]।
तत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रधीमता[2]॥१४॥

वेदाः सर्वेऽपि यज्ञार्थास्तत्प्रयोगान्सविस्तरान्।
प्रणैषीदात्मकल्पेन महान् बौधायनो मुनिः॥१५॥

स पुनर्विप्रकीर्णत्वाद्गहनत्वाच्च देशिकः।
न स्थूल[3]बुद्धिभिः शक्यमस्माभिरवगाहितुम्॥१६॥

आध्वर्यवेण हौत्रेण तथोद्गात्रेण वाचिना।
न निर्वहति कात्स्न्र्येन वैदिक्यो निखिलाः क्रियाः॥१७॥

पूर्वे[4] तु ग्रन्थकर्तारस्त्वेकैकत्र[5] कृतश्रमाः।
तत्रापि कात्स्न्र्यतो वक्तुं नैव यज्ञं समाश्रिताः॥१८॥

तदद्य बहुसन्देहनिवृत्तिकरणक्षमम्[6]।
विधेहि[7] कृपयाऽस्माकं यज्ञतन्त्रसुधानिधिम्॥१९॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सायणार्यः कृपानिधिः[8]।
त्रयीसूत्राणि संवीक्ष्य तन्निबन्धान्स कृत्स्नशः॥२०॥

सङ्गृह्य सारं कृतवान्[9] वेदशास्त्रार्थकोविदः।
यज्वनां परमप्रीत्यै यज्ञतन्त्रसुधानिधिम्॥२१॥

अग्नीनाधास्यमानः[10] सर्वदुरितपूर्वपापक्षयकामः सर्वप्रायश्चित्तरूपं कूष्माण्डहोमं कुर्यात्। अमावास्यायां पौर्णमास्यां वोपक्रमः। तस्यायं प्रयोगक्रमः।

एनोनिबर्हणार्थं कूष्माण्डं होष्यामीति सङ्कल्प्य श्मश्रूपपक्ष्मकेशलोमनखान् निर्वापयित्वा स्नानाद्यनन्तरं देवतादिसङ्कल्पं कुर्यात्। पुण्याहे देवता अग्न्यादयः, प्रधानदेवता सविता, चरुर्हविः। आधारं तन्त्रदेवयजनोल्लेखनाद्यग्निमुखान्तं कृत्वा भूर्भुवः स्वरोमित्यनुद्रुत्य तत्सवितुर्वरेण्यमित्येतया पक्वं हुत्वा स्विष्टकृतमवदायान्तःपरिधिं सादयित्वाज्याहुतिरुपजुहोति—

---

१. दष्टार्थगौरवः। १. प्रधीयसा। ३. स्थूभि।
४. पूर्वे। ५. त्येकैकत्त। ६. करणक्षमाम्।
७. वेधिहि। ८. सायणाचार्य। ९. कृतवाचेद।
१०. अग्नीन् धास्यमानः।

यद्देवादे. मितस्वाहा देवेभ्य आदित्येभ्य इदं १
देवा जीवनकाः सः स्वा. विश्वेभ्यो देवेभ्य इ. २
ऋते नद्या. दिम स्वा. द्यावा पृथिवीभ्याꣳ सरस्वत्यै चेदं. ३
इन्द्राग्नीमि.रिमस्वा. इन्द्राग्निमित्रावरुणसोमधातृबृहस्पतिभ्य इ. ४
सजातश. मुग्धि स्वा. जातवेदस इ. ५
यद्वाचाय. ष्कृता स्वा. अग्नये गार्हपत्यायेदं. ६
येन त्रित्तो. आक्षि स्वा. ज्योतिष इ. ७
यत्कुसीद. धामिस्वा. अग्नय इ. ८
यन्मयिमा. न स ꣳ स्वा. अंग्नयगार्हपत्या. ९
यदापि. वामि स्वा. अग्न्यनृणाभ्यामिदं. १०
यदन्तरिक्षं पृ. न स ꣳ स्वा. अग्नये गा. ११
यदाशसा. न स ꣳ स्वा. अग्नये गा. १२
अतिक्रामा. लोक ꣳ स्वा. अग्नय इ. १३
त्रितेदेवा. न स ꣳ स्वा. अग्नये गा. १४
दिनिजा. धनीः स्वा. अद्भ्यः शुंधनीभ्य इ. १५
यदापोन न. तनः स्वा. अद्भ्यो हिरण्यवर्णाभ्य इ. १६
इमं मेमेव. के स्वा. वरुणाय. १७
तत्त्वाया. षीः स्वा. वरुणाय. १८
त्वं नो अ. स्मत्स्वा. अग्नीवरुणाभ्याम्. १९
स त्वन्नो. एधि स्वा. अग्नीवरुणाभ्यां. २०
त्वमग्ने अ. षज ꣳ स्वा. अग्नये अयस इ. २१
यददीव्यं च ता ꣳ स्वा. अग्नीन्द्राभ्याम्. २२
यद्धस्ताभ्यां च क ꣳ णानिस्वा. उग्रं पश्यायै राष्ट्रभृद्भ्याम् क्षरोभ्यामि. २३
उग्रं पश्ये. रायस्वा. उग्रँ पश्याराष्ट्रभृद्भ्यामि. २४
अवतेहे. तानि स्वा. वरुणायेदं. २५
उदुत्तमं. स्याम स्वा. वरु. २६
इमं मे के स्वा. वरु. २७
तत्ताया. षीः स्वा. वरु. २८
त्वं नो अ. स्मत्स्वा. अग्नीवरुणाभ्यामि. २९
स त्वं नो. एधि स्वा. अग्नीवरु. ३०
स. कु सुको. च त ꣳ स्वा. सं कुसुक विकुसुक निर्ऋथनिः स्वनेभ्य इ. ३१
निर्यक्ष्म म. मसि स्वा. कृत्यायै निर्ऋतये इ. ३२

दु:श ᳪ सा. मसि स्वा. दु:श ᳪ सानुश ᳪ सघणानुघणेभ्य इ. ३३
संवर्चसा. लिष्ट ᳪ स्वा. त्वष्ट्र इ. ३४
आयुष्टे वि. मिते स्वा. आयषेडग्नय इ. ३५
आयुर्द अ. दिम ᳪ स्वा. आयुदादेग्नय इ. ३६
इममग्न. थासत्स्वा. अग्नये वरुणायादित्यै विश्वेभ्यो देवेभ्य इ. ३७
अग्न आयु॰ ब्धुना ᳪ स्वा. अग्नये पवमानायेदं. ३८
अग्नेपव. पोष ᳪ स्वा. अग्नये पव. ३९
अग्निर्ऋषिः गमस्वा. अग्नये पव. ४०
अग्ने जाता. उद्भौ स्वा. अग्नये जातवेदस इ. ४१
सहजाता. पत्नान्स्वा. जातवेदस इ. ४२
अग्ने यो नो. भरस्वा. अग्नये वृत्रघ्न इ. ४३
अग्ने यो नो भिदा. ध्मसि स्वा. अग्नय इ. ४४
यो नः शपा हता ᳪ स्वा. उषसे निम्रुच इ. ४५
यो नः स. च न स्वा. देवेभ्य. ४६
यो मां द्वेष्टि च मा ᳪ स्वा. जातवेदसेऽग्नय इ. ४७
यो अस्मभ्य. कुरु स्वा. अग्नय इ. ४८
स ᳪ शितं हितः स्वा. ब्रह्मण इ. ४९
उदेषां अह ᳪ स्वा. ब्रह्मण इ. ५०
पुनर्मनः विश्वा स्वा वैश्वानरायेदं. ५१
सि ᳪ हेव्या. दाना स्वा. त्विष्या इ. १
या राजन्ये. नास्वा. त्विष्या इ. २
या हस्तिनि. ना ᳪ स्वा. त्विश्या इ. ३
रथे अक्षे. नास्वा. त्विष्या इ. ४
इति चतस्त्र आहुतय इन्द्राण्या इति वा।
अग्नेभ्याव. धनेन स्वा. अग्नयेभ्यावर्त्तिन इ. १
अग्ने अंगिर. कृधि स्वा. अग्नयेभ्याव. २
पुनरूर्जा. श्वतः स्वा. अग्नयेभ्याव. ३
सहरय्या. स्परि स्वा. अग्नयेभ्याव. ४

समित्पाणिर्यजमानः स्वायतने तिष्ठन्नग्निमुपतिष्ठते वैश्वानराय प्रति. णंकृणोतु यन्मयाम. तथᳪ स्वा. अग्नये वैश्वानरायेदं. इति त्रयोदश्यासमिधमादध्यात् स्विष्टकृदादिवरदानान्ते अग्रेणाग्निमश्वत्थपर्णेषु हुतशेषं निदधाति।

एवमेनसस्तारतम्यं विचार्य संवत्सरं मासं चतुर्विंꣳशतिरात्रीर्द्वादशरात्रीः षड्रात्रीस्तिस्रो रात्रीर्वा हुत्वोपतिष्ठेत्। यावद्धोमस्तावत्तस्येति व्रतं नमाꣳ समश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नोपर्यासीत जुगुप्सेतानृतात्पयो ब्राह्मणस्य व्रतं यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्याथो सौम्येऽप्यध्वर एतद्व्रतं ब्रूयाद्यदि मन्येतो पदस्यामीत्योदनं धानाः सक्तून्घृतमित्यनुव्रतयेदात्मनोऽनुपदासाय पय एव ब्राह्मणः सकृद् भुञ्जीत, यदि मन्येतो पक्षिणोऽस्मीति तदा ओदनं धानाः सक्तून् घृतमिति यथारुचि अनुव्रजेत्। आत्मनोऽनुपदासायेति ब्राह्मणम्।

अथ कर्माङ्गभूतप्रयोगः

'अग्न्याधे यः पूर्णाहुतिं कृत्वा कूष्माण्डैर्जुहुयात्पूतो देवलोकान्समश्नुते' इति ब्राह्मणम्। इति कूष्माण्डहोमः।

अथ गणहोमः

पापापनोदकामः पूर्वाह्णे गृह्याग्निं प्रतिष्ठाप्य प्राणानायम्य समस्तपापक्षयार्थमशेषकर्मानुष्ठानयोग्यतासिध्यर्थं च गणहोमं करिष्ये। तत्र सविता देवता, चरुर्हविः, आधारादि तन्त्रमित्यादि सङ्कल्प्याग्निमुखान्ते व्याहृतीः पुरोऽनूच्य सावित्र्या पक्वं हुत्वावशिष्टचरौ प्रभूतमाज्यमानीय मेक्षणेनोपघातं जुहोति।

अग्ने नय. धेम स्वा. अग्नय इ. १
प्रवः शुक्रा. गाति स्वा. अग्न. २
अच्छागि. षाणा ꣳ स्वा. अग्न. ३
अग्ने त्वम. जत्र स्वा. अग्नय इ. ४
अग्ने त्वं पाशयोः स्वा. अग्न. ५
प्रकारवो. ताची स्वा. अग्न. ६
ततस्तैत्तिरीयपुरुषसूक्तेन प्रत्यृचं जुहुयात् पुरुषाय नारायणायेति त्यागः।
सहस्रशी. गुल ꣳ स्वा. पुरुषा नारायणायेदं. ७
पुरुष ए. हवि स्वा. पुरुष. ८
एतावा. दिवि स्वा. पुरु. ९
त्रिपादूर्ध्व. अभि स्वा. पुरु. १०
तस्माद्वि. पुरः स्वा. पुरु. ११
यत्पुरुषे. द्धविः स्वा. पुरु. १२

सप्तास्या. पशु ं स्वा. पुरु. १३
तं यज्ञं. श्च ये स्वा. पुरु. १४
तस्माद्य. श्च ये स्वा. पुरु. १५
तस्माद्य. यत स्वा. पुरु. १६
तस्मादश्वा. वयः स्वा. पुरुष. १७
यत्पुरु. च्येते स्वा. पुरु. १८
ब्राह्मणो. यत स्वा. पुरु. १९
चन्द्रमा. यत स्वा. पुरु. २०
नाभ्या आ. यन्स्वा. पुरु. २१
वेदाह. दास्ते स्वा. पुरु. २२
धातापु. विद्यते स्वा. पुरु. २३
यज्ञेन. देवाः स्वा. पुरुषाय नारायणायेदं. २४
अग्नेर्मन्वे. हसः स्वा. अग्नये ं स्वा. होमुच इ. २५
यस्येदं प्रा. हस. स्वा. अग्नये ं स्वा. होमुच इ. २६
इन्द्रस्य म. हसः इन्द्राया ं होमुच इ. २७
यः संग्रामं. हसः स्वा. इन्द्राया ं होमुच इ. २८
मन्वेवां गसः स्वा. मित्रा. रुणाभ्यामागोमुग्भ्यामिदं. २९
यो वा ं र. गसः स्वा. मित्रा. रुणाभ्यामागोमुग्भ्यामिदं. ३०
वायोः सवि. गसः स्वा. वायुसवितृभ्यामागोमुग्भ्यामिदं. ३१
उपश्रेष्ठा. गसः स्वा. वायुस. मि. ३२
रथीतमौ. गसः स्वा. अश्विभ्यामागोमुग्भ्यामि. ३३
यदयातं गसः स्वा. अश्विभ्यामा. मि. ३४
मरुतां म. नसः स्वा. मरुद्भ्यो हैनोमुग्भ्य. इ. ३५
तिग्मायुः नसः स्वा. मरुद्भ्य. ३६
देवानां म. नसः स्वा. विश्वेभ्यो देवेभ्य एनोमुग्भ्य इ. ३७
यदिदं मा. नसः स्वा. विश्वेदे. इ. ३८
अनुनो. मयः स्वा. अनुमत्या इ. ३९
अन्विदन. रिषः स्वा. अनुमत्या इ. ४०
वैश्वानरो. हसा स्वा. अग्नये वैश्वानरायेदं. ४१
पृष्टो दि. नक्त ं स्वा. अग्नये वैश्वा. दं. ४२
ये अप्रथेता. हसः स्वाहा।
द्यावा पृथिवीभ्याम. ं स्वा. हो मुग्भ्यामिदं. ४३
उवइरो. हसः स्वा. द्यावापृ. मुग्भ्यामि. ४४

यत्ते वयं. गग्ने स्वा. अग्नये ४५
यथाह तद्व. आयुः स्वा. अग्न. ४६
या वा मिं. य. चत ㆀ स्वा. इन्द्रावरुणाभ्याम् ㆀ हो मृग्भ्यामि. ४७
या वा. स. चत ㆀ स्वा. इन्द्राव. मुग्भ्यामि. ४८
या वा. रक्षत ㆀ स्वा. इन्द्रा व. मि. ४९
या वा तेज. त ㆀ स्वा. इन्द्राव. मि. ५०
यो वामिं. वग्नौ. यजे स्वा. इन्द्रावरुणामग्नौ स्तामायेदं. ५१
यो वा. द्विपा. जे स्वा. इन्द्रा. भ्यां द्विपात्सुपशुस्ता. ५२
यो. चतुष्पा. इं. चतुष्पात्सु पशुषु स्ता. ५३
यो वा. गोष्ठे. जे स्वा. इन्द्रा. भ्यां गोष्ठे स्ता. ५४
यो वा. गृहे. जे स्वा. इं. भ्यां गृहेषु स्ता. ५५
यो वा. श्रू. जे स्वा. इं. भ्यामश्रूस्ता. ५६
यो वा. णौष. जे स्वा. इं. भ्यामोषधीषु स्ता. ५७
यो वा. वन. ते स्वा. इं. भ्यां वनस्पतिषु स्ता. ५८
पवमानः सु तुमा स्वा. पवमानाय सूवर्जनाय पवित्राय विचर्षणये पोत्रे चेदं. ५९
पुनं. तु मा. यवः स्वा. देवजनमनुविश्वायुभ्य इ. ६०
जातवे. रनु स्वा. जातवेदसेऽग्नय इ. ६१
यत्ते यवि. महे स्वा. अग्नय इ. ६२
उभ्यां. दे. महे स्वा. देवाय सवित्रे ब्रह्मण इ. ६३
वैश्वदे. यीणा ㆀ स्वा. वै देव्यै पुनत्या इ. ६४
वैश्वानरो. नीता ㆀ स्वा. वैश्वानरवातेषिरद्यावा पृथिव्यातावरीभ्य इ. ६५
बृहद्भिः हि मा स्वा. सवित्रेऽग्नय इ. ६६
येन देवा. महे स्वा. ब्रह्मण इ. ६७
यः पावमा. श्वनास्वा. पावनीभ्य इ. ६८
पावमानी. दक ㆀ स्वा. पावमानी. दृक ㆀ स्वा. पावमानीभ्य इ. ६९
पावमानीः हित ㆀ स्वा. पावमा. ७०
पावमानीर्दि. भृताः स्वा. पावमा. ७१
पावमानीः हित ㆀ स्वा. पावमा. ७२
येन देवा. तु मा स्वा. पाषमा (पावमा) ७३
प्राजापत्यं. महे स्वा. ब्रह्मण इ. ७४
इन्द्रः सुनी. ना तु स्वा. इन्द्राय सुनीत्या सहिताय सोमाय स्वारत्या सहिताय वरुणाय समीच्या सहिताय यमाय राज्ञे प्रमृणाभिः सहिताय जातवेदसे ऊर्जयन्त्या सहितायेदं. ७५

अथवा इन्द्राय सुनीत्यै सोमाय स्वस्तये वरुणाय समीच्यै यमाय राज्ञे मृणाभ्यो जातवेदसे ऊर्जयन्त्या इ. ७६

यद्वा इन्द्रादिभ्यः सुनीत्यादिभ्य इ. यद्देवा. मुतस्वा. देवेभ्य आदित्येभ्य इ. ७७

देवा जीवन. वस ꣳ स्वा. अग्नये गार्हपत्यायेदं. ७८

ऋतेन द्यावा. रिम स्वा. द्यावापृथिवीभ्याꣳ सरस्वत्यै चेदं. ७९

सजातश ꣳ मुग्धि स्वा. जातवेदस इ. ८०

यद्वाचा. न स ꣳ स्वा. अग्नये गार्हप. ८१

यद्धस्ताभ्यां. णानि स्वा. दूरे पश्या. राष्ट्रभृद्भ्यामक्षरोभ्यामि. ८२

अदीव्य नृ. नस ꣳ स्वा. अग्नये गार्हप. ८३

यन्मयिमा. नस ꣳ स्वा. अग्नये गार्हप. ८४

यदापि. वामि स्वा. अग्नय इ. ८५

यदंतरि न सः स्वा. अग्नये गार्हप. ८६

यदाशसा. न सः स्वा. अग्नये गार्ह. ८७

अतिक्रामामि. लोक ꣳ स्वा. अग्नय इ. ८८

त्रितेदे. नसः स्वा. अग्नये गार्ह. ८९

दिविजा. धनीः स्वा. अद्भ्यः शुंधनीभ्य इ. ९०

यदापो अ. तनः स्वाहा अद्भ्यो हिरण्यवर्णाभ्य इ. ९१

इमं मे. चके स्वा. वरुणायेदं. ९२

तत्त्वाया. मोषधीः स्वा. वरुणाये. ९३

त्वं नो अ. स्मत्स्वा. अग्नीवरुणाभ्यामि. ९४

स्त्वन्नो. एधि स्वा. अग्नीवरु. ९५

त्वमग्ने. षज् ꣳ स्वा. अग्नये अयस इ. ९६

।।इति कूष्माण्डः।।

वैश्वानरो. हसा स्वा. अग्नये वैश्वानरायेदं. १

ऋतावानं. महे स्वा. अग्नये वै. २

वैश्वानरस्य. तसा स्वा. अग्नये वै. ३

पृष्टो दि. नक्त ꣳ स्वा. अग्नये वै. ४

जातो य. दानः स्वा. अग्नये वै. ५

त्वमग्ने शो. हित्वा स्वा. अग्नये वै. ६

अस्माकम. तिभिः अग्नये वै. ७

वैश्वानर. र्येण स्वा. अग्नये वै. ८

।।इति वैश्वानर्यः।।

एवं त्वापवित्रः सहस्त्राक्षोमृगाराः होमुचौ गणौ पावमान्यश्च कूष्माण्डयो वैश्वानर्य ऋचश्चास्याः, इत्यष्टगणोक्तैर्मन्त्रैरष्टोत्तरशतं चरुहोमं कृत्वा व्याहृतिभिरुपहोमं कुर्यात्। ततः स्विष्टकृदादिवरदानान्तं कुर्यात्।

आपूर्विकं तन्त्रं तस्मिन्पक्षे अनाम्नाततया पक्वहोमो नास्ति। एवं कृत्वोदपात्रमादाय नैर्ऋतीं दिशं गत्वा चतुष्पथे गोमयेनोपलिप्योपविश्योदपात्रं पुरो निधाय तत्र प्रतिबिम्बितमात्मानमवेक्ष्यमाणो विनिधिसंज्ञकान्मन्त्रान् जपेत्। ते च सिꣳहेमेमन्युरित्यनुवाकेन समाम्नाताः।

विनिधित्वमप्येषां यजमानेन स्वपाप्मा स्वात्मनो विविच्य तत्र तत्र निधीयते एभिरिति। अयं मन्त्र-पाठक्रमः—

सिꣳहेमेमन्युर्व्याघ्रमेऽन्तरामयो वृके मेक्षदश्वमेध सिर्धन्विनि मे पिपासा राजगृहे मेशनयाश्मनिमेतंद्रिर्गदर्भे प्रेरिशः। शल्यके मे ह्रिरश्वत्थे मेवयेथुः कूर्मे मेंगरोगोबस्ते मे पसर्या ऽ प्रिये मे मृत्युर्भ्रातृव्ये मे पाप्मा सपले मे निर्वृतिर्दुष्कीर्त्तौ मे वृद्धिः परस्वति म ऽ समृद्धिः स्वद्गेम। आर्त्तिगर्वयेम आध्यगौरे मे वाधिर्य मृक्षे मे शोको गोधायां मे स्वेदो जरायां मे ह्रिमः कृष्णशकुनौ मे भीरुताकशे मे पापगंध उलूके मे श्वल्कशः ल्कोक मे ईर्ष्या मक्रटे मे दुऋद्धिः कुलले मे मꣳ स्योलले मे प्रध्योष्ट्रे मे तृह्मर्ष्ये मे भ्रम उर्व्यां मे आव्यं कोशे मे गधः कुमार्यां मे लंकारः सूकरे मे क्रदथुः, पृदाखुनि मे स्वप्नो ऽ जगरे मे दुःस्वप्नो विद्युति मे स्मयो लोभायां मे क्लेदः शरभे मे पाप्मा ऽ लक्ष्मीस्त्रीषु में ऽ नृतमजासु मे कक्रशो व्रात्येम इत्याशूद्रे मे स्तेयं वैश्ये मे कार्मकृत्यं राजन्यबंधुनि मे ज्ञानं नैषादे मे ब्रह्महत्या कुलिंगे मे क्षवथु रुलले मे विलास उद्रिणि मे वमतिः किं पुरुषे मे रोदोद्दीपिनि मे निष्ट यच्छस्तिनि मे किलासः शुनि मे दुरीः प्रस्ना वन्येषु मे ल्मेच्छो विदेहेषु मे शिपथो महावर्षे मे ग्लौ मूर्जवत् सू मे तृप्ता दुंदभौ मे काशिके ऽ क्ष्वा कुसुमे पित्तं कलिंगे मे मध्यमश्ववर्या मे प्रजस्तायुꣳ (श्वल्पां) श्वल्यं मे दुश्चरित्र मा खुनि मे दतरोगो मक्षिकायां मे श्वल्कशः शुनि मे हरि मामयूरे मे जल्प्या वृषे मे जराचाषे मे पाप वादोश्रू मे भ्रमो ब्रह्मोज्ञो मे किल्विषमपेहि पापम्पुनरपनाशिनो भवानः पाप्मत्सूकृतस्य लोपाप्मन्धे ह्य विहृतो यो नः पाप्मनं जहति तमुत्वा जहि मो वयमन्यत्रास्मिन्निविशाꣳ सहस्त्राक्षो अमर्त्त्यो यो नो द्वेष्टि सरिष्यतु यमुद्विष्मस्तमु जहीति। ततस्ताः पात्रगता आपो नैर्ऋत्यां दिशि स्वद्वेष्याधिष्ठितायां वा दिशि निनयति दुर्मित्रास्तस्मै. द्विष्म इति अथ परास्य पात्रं पृष्ठतो न वेक्षमाणो यथेतमेत्य हस्तपादप्रक्षालनं कुर्यात्।

एवमेव सप्ताहं सवनत्रयं कुर्यात्, अत्रैकाहं त्र्यहं पक्षमासं त्वयनं संवत्सरं शक्तितारतम्येन विकल्पिताः कालाः कर्मान्ते सर्पिषा पायसेन ब्राह्मणान्भोजयित्वा तेभ्यो गोहिरण्यादि दत्वा पूतः सर्वकर्मार्हो भवति। दशपूर्वान् दशपरानात्मानं पुनातीत्याह भगवान् **बौधायनः**।

अथाग्न्याधानविधिः

तत्र श्रुतिः—"जातः पुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत ते।" उपलक्षणं चैतद् अजातपुत्रादीनामप्यग्न्याधानश्रवणात् तामाशिषमाशंसे तंतवे ज्योतिष्मतीमिति ब्रूयाद्यस्य पुत्रो जातः स्यात्।

जायावान्दशमेऽहन्यग्नीनादधीत इन्द्राग्नी वा एतस्य प्रजामयगूहतो योऽलं प्रजायै सन्प्रजां न विन्दत, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामो यः कामयेत प्रजायेयेति सद्वा दशरात्रेण यजेत प्रैवजायते कृष्णकेश इत्यनेन दीक्षायां वेक्षण-विष्णुक्रम-यूपायाहाराश्वारोहणादि विसमर्थं शरीरबलं द्योतयति।

'अन्यथा अधर्मेणाधिगत एषां वेदः सरिष्टं हणः।

लब्धपुण्यधनाढ्यानामग्न्याधानमिहोच्यते॥'

इत्येवमग्न्याधानादिकं वचनबन्धनं विध्येत्, तस्मादधिकारिणोऽग्न्याधानकाले विशेषो निरूप्यते।

अथातो ऋतूनामेव मीमांसा—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः, वर्षासु रथकार इति।

आपस्तम्बस्तु—हेमन्ते वा शरदि वैश्यस्य, शिशिरः सार्ववर्णिक इत्याह—अथो खलु यदेवैन ँ श्रद्धोपनमेत्तदा दधीत सैवास्यर्द्धिरिति। अत्र वसन्तादयः सौरश्चान्द्र इति द्विविधा भवन्ति।

मेषवृषभौ सौरौ वसन्तः, मीनमेषौ वा मृगादि-राशिद्वय-भानुभोगान् षट् चर्तवः स्युः (षट्चतुः स्युः) शिशिरो वसन्त इति वचनात्।

अत्र यावदादित्यो मीनमेषयोस्तिष्ठति तावत्कालो वसन्तः, एवं वृषभादिद्वन्द्वेषु क्रमाद् ग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः। एवं चान्द्र-ऋतवश्चान्द्रमासेभ्यो भवन्ति। चान्द्रमासाश्च चैत्रादिसंज्ञकाः। चैत्रसंज्ञकश्चेत्सवितरि मेषराशिस्थिते सति यो दर्श आगच्छति तदवसाननिबन्धनात्।

एवं वृषभस्थे सवितरि यो दर्श आगच्छति तदवसाननिबन्धनात्। वैशाखसंज्ञावेतावुभौ चन्द्रौ चैत्रवैशाखौ, अतश्चन्द्रो वसन्तः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्।

तथा च ज्योतिःशास्त्रे मेषादिराशिस्थिते सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः चैत्रादिसंज्ञक इति। एवञ्च सौरचान्द्रयोर्मासयोर्यज्ञाङ्गत्वं न नक्षत्रादीनां मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यच्चैत्रीपूर्णमास इति श्रुतेः।

अथवा फाल्गुनचैत्रौ वसन्तमुखं वा एतत्संवत्सरस्य फाल्गुनीपूर्णिमास इति श्रुतेः। एवञ्च सौरचान्द्रभेदभिन्नं वसन्तद्वयमुपगृहीतं भवति, फाल्गुने मासि सवितुर्मीनराश्यनुप्रवेशसम्भवात्।

उभयमपि श्रूयते चान्द्रमासः यद्धोता षड्ऋतून् कल्पयतीति। अनेन चान्द्रमास-ऋतुकल्पनमुक्तं दिग्भ्राज ऋतून् करोतीति च दिग्भ्राज इति निषङ्गः। अनेन सर्वस्य ऋतुकल्पनमुक्तम्। अनेन सौरचान्द्रमासं तयोर्विकल्पः। एवं विज्ञान्तरेष्वपि वसन्ते ज्योतिषा यजेत शरदि ग्रीष्मे वाजपेयेन शरदि पञ्चशारदेयेन वर्षासु श्यामाकाग्रयणेन शरदि ब्रीह्याग्रयणेन अयनयोः पशुना इत्यादि-प्रकारेण विस्तरेण वक्ष्यामः।

अथाग्न्याधेयनक्षत्राणि

आचार्यः कृत्तिकासु रोहिण्यां पुनर्वसौ पूर्वोत्तरयोः फल्गुन्योश्चित्रायामिति, आश्वलायनो मृगशीर्षः प्रौष्ठपदाविशाखावित्याह। आपस्तम्बस्तु श्रवणमनुराधा अप्याह, आचार्यस्तु रोहिण्यां योगविशेषप्राशस्त्यमाह—सा या वैशाख्याः पौर्णमास्या उपरिष्टादमावास्या भवति सा सकृत्संवत्सरस्य रोहिण्या संपद्यते तस्यामादधीतेति। अथो खलु यदैवैनं श्रद्धोपनमेदर्थादधीतस्यैवास्यर्द्धिरिति तदेतदार्त्तवस्य वातिवेलं वा श्रद्धायुक्तस्य। अग्नीनाधास्यमानेनर्त्तून् पृच्छेन्न नक्षत्रमित्यादि कालक्रियानियमवचनानि सोमाधानपराणि। सोमाधानशब्देन सोमविलम्बितपूर्वकालीनमाधानमुच्यते।

तदा त्वग्नीनाधायाग्निहोत्रेष्टि-पशुचातुर्मास्याद्यनुष्ठाय पश्चात्सोमेन यक्ष्यमाणो भवति तत्राग्न्याधानकालो नियतः। अत्र ज्योतिःशास्त्रे आधानात्पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धं कर्त्तव्यम्।

तस्य प्रयोगे ह्युक्तेऽपि योगसौकर्यार्थमत्रापि लिख्यते। नान्दीश्राद्धदिनात्पूर्वेद्युः रात्रौ सर्वेषु भुक्तवत्सु ब्राह्मणान् गन्धादिभिरभ्यर्च्य प्राणानाचम्य "अग्न्याधानाङ्गभूतं नान्दीश्राद्धं श्वः करिष्यमाण इदानीं पूर्वेद्युः रात्रौ पुण्याहवाचनं करिष्ये" इति

सङ्कल्प्य कुरुष्वेति तैरनुज्ञातो यथाविधिपुण्याहं वाचयित्वा समूहकारेण ब्राह्मणेभ्यः क्षणं दत्वा विसर्जयेत्।

ततः श्वोभूते नान्दीमुखं श्राद्धं कुर्यात्। तत्रायं विशेषः—सर्वत्र यज्ञोपवीत्येव पुष्पफलाक्षतैर्यवैस्तिलार्थं कुर्यात्। सर्वत्र मन्त्रेषु तिलोऽसीति स्थाने यवोऽसीत्यूहः। दर्भस्थाने दूर्वाः प्रयोज्याः। प्रदक्षिणमुपचारः। उदगपवर्गः। आदौ मातृवर्गः, मध्ये पितृवर्गः, अन्ते मातामहवर्गः।

'मातृश्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितृणां तदनन्तरम्।
ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं विदुः'॥

यत्तूक्तम्—

सपितुः पितृकृत्येषु ह्यधिकारो न विद्यते।
न जीवन्तमतिक्रम्य किञ्चिद्दद्यादिति श्रुतिः॥

इति कात्यायनसूत्रेऽपि होमान्तमनारम्भो वेति पितृयज्ञारम्भं नास्ति, आपस्तम्बोऽपि यदि जीवत्पिता ता न दद्यात्, होमात्कृत्वा विरमेदित्यादिवचनैर्जीवत्पितृकस्य नान्दीश्राद्धेऽप्यनधिकार एव प्रतीयते, तत्कथमनुष्ठानमिति, अत्रोच्यते—

उद्वाहे पुत्रजनने पुत्रेष्ट्यां सौमिके मखे।
तीर्थे ब्राह्मण आयाते षडेते जीवतः पितुः॥

पुत्रस्येति शेषः।

न जीवत्पितृकः कुर्यात् श्राद्धमग्निमृते द्विजः।
एभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यः कुर्वीत साग्निकः॥
साग्निकोऽपि न कुर्वीत यो जीवत्प्रपितामहे॥ इति।

पितृपितामहाभ्यां सह प्रपितामहे जीवतीत्यर्थः। त्रिष्वपि जीवत्सु नान्दीश्राद्धस्थाने त एव पूज्याः, तेषामेकस्मिन्नविद्यमाने एभ्य एव पिता दद्यादित्यादिवचनस्यावकाशाद्यद्यपि पितृषु जीवत्सु इदं वचनं प्रवर्त्तते—'साग्निकोऽपि न कुर्वीत यो जीवत्प्रपितामहे' इति वचनेन बाध्यत इति। एवं मातरि जीवन्त्यां एभ्य एव पिता दद्यादित्ययमेव न्यायः, मातामहे जीवति पुत्रिकापुत्रस्य पूज्य एव, पुत्रिकापुत्रस्य तु एभ्य एव पिता दद्यादित्यादिन्यायेनानुष्ठानम्। सर्वत्र नान्दीमुखपद-प्रयोगानन्तरं पितृपदप्रयोगः।

उपस्तरणाभिघारणपिण्डदानादीनि पृषदाज्येन कुर्यात्। दध्योदनं विकिरणे योज्यं स्वधावचनस्थाने इडादेवहूरित्यनुवाकजयः अग्निमुखं स्विष्टकृदादयश्च न सन्ति। सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा नान्दीमुखाः पितर इत्यादि सामान्यपदप्रयोगः। न त्वस्मच्छब्दनामगोत्रादिवचनं गोत्रमात्रप्रयोगं केचिदिच्छन्ति।

अथास्य प्रयोगक्रमः

प्राणानाचम्य अग्न्याधानाङ्गं नान्दीश्राद्धं करिष्य इति सङ्कल्प्याग्निमुपसमाधायोत्तरतो दर्भानास्तीर्य आज्यस्थालीं स्त्रुवं पृथदाज्यपात्रं समिधं कूर्चं प्रोक्षणं पात्रद्वन्द्वान्यपि सादयित्वोत्तानानि कृत्वा प्रोक्ष्य पृषदाज्यपात्रे पवित्रं दध्यानीयाज्यस्थाल्यामर्पित्वा पवित्रमाज्यमानीयोदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तान्व्यन्तान्कृत्वा विगलान्तान् वर्त्तुलान्कृत्वेत्यर्थः।

तेष्वधिश्रित्याभिद्योतनेनोभयमभिद्योत्य पृषदाज्यपात्रे प्रक्षालितदर्भाग्रद्वयं प्रक्षिप्य पुनरप्युभयमभिद्योत्य त्रिःपर्यग्निकरणं कृत्वा वर्त्म कुर्वन्नुभयमप्युद्वास्य प्रत्यूह्याङ्गारानुदकमुपस्पृश्याज्यमुदीचीनाग्राभ्यां दर्भाभ्यां पुनराहारं त्रिरुत्पूयविस्त्रस्य पवित्राद्भिः संस्पृश्याग्नावनुप्रहरति।

अस्याज्यस्य दध्न्यर्धसंयोजनात्पृषदाज्यं भवति। पुनस्तदभिघार्यस्त्रुवं निषृप्यसम्मृज्य पुनर्निष्टप्य निदधाति, अथाक्षतमण्डले गन्धपुष्पयवदूर्वाभिरर्चिते सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदं वः पाद्यमिदं चेति द्वयोर्ब्राह्मणयोः पाद्यं दत्वा पादप्रक्षालनाचमनानन्तरं पूर्वक्लृप्तानां सत्यवसुसंज्ञकानां विश्वेषां देवानामिदं व आसनमिदं चेति प्राङ्मुखावुपवेश्य सत्यवसुसंज्ञकान् विश्वान्देवान् आवाहयामीत्यावाह्य तयोरङ्गुष्ठौ गृहीत्वा वैश्वदेवेक्षणः क्रियतामिति वदेत्। प्राप्नुतां भवतौ प्राप्नुवावेति ताभ्यां प्रतिवचनम्, ततः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदं वो अर्घ्यं वस्त्रमिदं व इत्यनेन क्रमेण गन्धपुष्पाक्षतयवधूपदीपादि दद्यात्।

वस्त्रमित्यादि यथा द्रव्यं तौ प्रतिब्रूतां ततो भोजनपात्रयोर्द्विद्विरूपमास्तीर्य दध्योदनपूर्वकं भोज्यजातं परिवेष्य प्रागग्रासु दूर्वासु सादयित्वा प्रागग्राभिर्दूर्वाभिः प्रच्छाद्याभिमृश्य सत्यवसुसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं स्वाहा, इदं चेति ब्रुवस्तं यः प्रक्षालितेनानखेनाङ्गुष्ठेन तानुद्दिश्य नमस्कुर्यात्।

ततो यज्ञोपवीत्येवं प्राङ्मुखेष्वासीनेषूदग्वर्गेषु दूर्वा यवांश्च निक्षिप्य नान्दीमुखानां मातृपितामहीप्रपितामहीनामिदमासनमिदं चेति। नान्दीमुखानां पितृपितामहप्रपितामहानामिदमासनमिदं चेति।

नान्दी. मातामहमातुः पितामहमातुः प्रपितामहानामिदमासनमिदं चेति। क्रमेणासनानि दत्वा प्रागग्रासु दूर्वासु पात्रं पात्राणि वासाद्य द्वे द्वे पवित्रे निधायाप आनीय यवानोप्य तिरः पवित्रे मध्वानीयावेक्ष्यालोड्य किञ्चिन्नरस्याप उपस्पृश्याभिमृश्य गन्धादिभिरभ्यर्च्य भोजनस्थानेष्वासनेषु यवसिकताश्च सम्प्रकीर्य नान्दीमुखान्पितॄन् यथाक्रममावाह्य ब्राह्मणानाहूयाक्षतमण्डलेषु क्रमेण पाद्यं दत्वा पादप्रक्षालनाचमनानन्तरं यथाक्रममासनेषूपवेश्य क्षणान् ग्राहयित्वाभ्यर्च्य द्विर्द्विर्यवोदकं सपवित्रं हस्ते दत्वाभ्यर्च्य पुनश्च यवोदकं दत्वाग्नौ करिष्यामीति वदेत्।

कुरुष्वेत्यनुज्ञातोऽग्निमुपसमाधाय समिधमग्नौ निधाय स्रुवेण पृषदाज्यं गृहीत्वा नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहेति सकृद् हुत्वा भोजनपात्रेषु पृषदाज्येन द्विर्द्विरुपस्तीर्य दध्योदनानि परिवेष्य क्रमाच्चतुर्थ्यन्तेन मन्त्रेण स्वाहान्तेन दत्वा कुलदेवतां सम्पूज्य पुष्पफलाक्षतदूर्वाः संगृह्योदनंमुद्ब्रुवतेऽयन्तु न देय इति जपित्वा नान्दीमुखदेवताः पितरः प्रीयन्तामिति वाचयित्वा नमस्कृत्य ॐ तत्सदमृतमस्त्वित्यनुज्ञाय यथावद् भोजयित्वा श्राव्य तृप्तान् पृषद्वाचम्य दध्योदनं विकीर्य यवोदकैर्द्विरुपसिच्य पुनश्च विप्रैः सहोदकुम्भमादाय दक्षिणं जानुं निधाय सव्यमुद्धृत्य जपति इडादेवहूरिति। तावदनुवाकस्य नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामिति वाचयित्वापो निनीय विप्रान् विसृज्योत्ताप्यानुव्रज्य प्रसाद्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्यान्नशेषमज्ञाप्यैवं देवार्थौ विप्रौ विसृज्योत्तरेणाग्निं प्रागग्राद्दूर्वा आस्तीर्य तत्र यवोदकं दत्वा होममन्त्रेण सकृत्पृषदाज्यं दद्यात्। संक्षालनेन यवमिश्रेण ऊर्जं वहन्तीरिति प्रदक्षिणं द्विः परिषिच्य जपादिस्थाने नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहेति पृषदाज्येन सकृज्जुहुयात्।

ततो वरदानं कुर्यादिति

निखिलश्रौतकर्मणां मन्त्रवत्साध्यत्वादादित आधानमेव तन्यते। तत्रादौ ब्राह्मणानुज्ञातः सन् स्वाध्यायोक्तविधिना विशेषतः कूष्माण्डगणहोमाभ्यां गवादिदानैश्चात्मानं पावयित्वा सपत्नीकोऽग्नीनादधीत बहुपत्नीकश्चेत्सर्वाभिः सहैवादधीतावसत ग्रीष्मशरद्वर्षासु यथाक्रमं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यरथकारा आदधीरन्।

सर्वे वसन्ते शिशिरे वा ग्रीष्मे वा पूर्णिमाऽमावास्या यजनीयास्तिथयः।

अथ नक्षत्राणि

कृत्तिकारोहिणीपुनर्वसुपूर्वोत्तराफाल्गुनीचित्रामृगशीर्षप्रोष्ठपदाश्रवणानुराधाः।

अत्र सर्वत्र रोहिणी मुख्या। तत्रापि विशाखाऽमावास्यायुक्ता मुख्यतमा, तदभावेऽन्यानि नक्षत्राणि, कृत्तिकादीनामकाम्यत्वं च ऋतुनक्षत्रपर्वयोगप्रधानम्, रोहिणीयुक्ता यजनीयाद्यास्तिथयः।

तत्र विशाखाऽमावास्याप्रयुक्तौ यजनीयौपवसथ्यौ वा तदभावे ऋतु-नक्षत्रयोग एव तत्रापि पूर्वपक्ष एव ऋतुपर्वणो वा आर्त्ताधाने तु नर्त्तुनक्षत्रपर्वनियमः। सोमपूर्वे तु तत्पूर्वकाल एव यथा तस्मिन्नेव दीक्षा यथा स्यात् तत्रादाववश्यकर्तव्यात्।

स्मार्तानामपि कूष्माण्डहोमे नान्दीमुखानां सौकर्यार्थं प्रयोगक्रमो लिखितः। एवं पूर्वेद्युर्नान्दीश्राद्धानन्तरं रात्रावुदकशान्तिः प्रतिसरबन्धं च गृह्योक्तप्रकारेण विधाय श्वोभूते पवनमन्त्राचमनमन्त्रमार्जनानि कुर्यात्।

तत्रायं क्रमः

एकविंशतिदर्भपिंजूलैस्त्रेधाविभक्तैः सप्तभिर्मुखं सप्तभिः कण्ठं सप्तभिर्गुल्फौ तूष्णीं पावयत्वा प्रोक्ष्योदङ्ङिनरस्याप उपस्पृश्य मन्त्राचमनं कुर्यात्। आपो हि. क्षसे इति प्रथमम्, यो वशि. तरः इति द्वितीयम्। तस्मा अरं. च नः इति तृतीयम्।

व्याहृतिभिस्त्रिः परिमृजेद् व्याहृतिभिः पिबेदब्लिंगाभिः परिमृजेद्वा शेषं यथा समापयेत्।

ततोऽद्भिः प्रोक्षणं करोति सूरभिमत्या दधिक्रा. षत् अब्लिंगाभिः आपादिभिस्तिसृभिर्वारुणीभिः यच्चिद्धिते. वरुणप्रियास इति।

हिरण्यवर्णाभिः हिरण्यवर्णाः शु. मोजोनिधत्त पवमानः सूवर्जन इत्यनुवाकगताभिः, वामदेव्येन कयानश्चित्र आ. यावृतेति तरत्समंदीभिः तरत्समंदीधाव. मंदी धावतीत्याभिः यल्पप्येवं प्रोक्षणं कुर्यात्।

ऋत्विजश्च पवनादित्रयं कुर्युः, ततः पुण्याहं वाचयेत्।

अत्राग्निः प्रीयतामिति भवन्तो ब्रुवन्तु इति विशेषः।

तत औपासनाग्नेः पश्चाद्देशे प्रागग्रेषु कुशेषु पत्नीयजमानावुपविशतः, उत्तरतः पतिर्दक्षिणतः पत्नी ऋत्विजश्च ययोरुत्तरतः प्राङ्मुखा उपविशन्ति। ततः पत्नीयजमानौ जपतः—याः पुरस्ता. युज्यतामिति। ततश्च श्रद्धामाचरेत् श्रद्ध ए. यामिति।

तत आकूत्यावेदनं करोति।

आकूतिर्मानसः सङ्कल्पः आवदनं तत्प्रकाशकमन्त्रजपः आकूत्यै त्वा. निविष्टमिति ततः सर्वकामोऽग्नीनाधास्य इति मनसा त्रिः सङ्कल्प्य त्रिरुच्चैर्वदेत्।

सोमो पूर्वाधाने सोमेन यक्ष्यमाणः सर्वकामाग्नीनाधास्य इति विशेषः। वरणार्हानृत्विजः प्रति यजमान आह तन्म ऋ. तां काम इति। ते च प्रतिब्रूयुः, तत ऋ. काम इति।

ॐ तथेति यजमानस्य प्रतिवचनम्।

अथर्त्विग्वरणम्

ते च योनिगोत्रवृत्तश्रुतसम्पन्ना अदुष्टा बहुशो दृष्टकर्माणो भवन्ति, तेष्वादितोऽध्वर्युः सपत्नीको यजमानः पादावुपसंगृह्य वृणीते—देवदत्तशर्माहमाध्वर्य-.वणे त्वागच्छामि याजयितुं मां भवान्।.

आदित्यो देवो दैवोऽध्वर्युः समध्वर्युरध्वर्युस्त्वां वृणे इति वृते जपति आदित्यो देवोऽध्वर्युः स तेऽध्वर्युस्तेनानुमतः कर्मैवाहं करिष्यामीति।

ॐ तथेति यजमानप्रतिवचनम्। वृतो जपति।

महन्मे वोचोयुशो मे वोचो भगो मे वोचो भर्गो मे वोचस्तपो मे वोचस्तपो मे वोचस्तोमं मे वोचः क्लृप्तिं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः प्रजां मे वोचः पशुभ्यो वोचो विश्वं मे वोचः सर्वं मे वोचः सर्वं कल्याणं मे वोचस्तन्मामवतु तन्मा विशतु तन्मा जिन्वतु तेन मे भुक्षिषीयेति।

ॐ तथेति यजमानप्रतिवचनम्।

अथ ब्रह्माणमध्वर्युर्वृणीते

यज्ञशर्माहं ब्रह्मत्वेन त्वां गच्छामि याजयितुं मां भवान्। चन्द्रमा देवा दैवो ब्रह्मासमे ब्रह्मा ब्रह्माणं त्वां वृणोमि वृतो जपति। चन्द्रमादेवो देवो ब्रह्मा स ते ब्रह्मा ते नानु. ष्यामीति।

ॐ तथेति यज्ञ. वचनं महन्मे वोच इति पूर्ववज्जपति, तथैव प्रतिवचनम्।

अथ होतारं पूर्ववद्वृणीते

यज्ञशर्माहं हौत्रेण त्वाच्छामि यावान् अग्निर्देवो दैवो होता स मे होता होतु

होतारं त्वामहं वृणोमि वृतो जपति। अग्निर्देवो दैवो होता स ते होता तेनानु. ष्यामीति, ॐ तथेति यजमानवचनं, वृतो जपति महन्म इति पूर्ववज्जपति प्रतिवचनम्। पूर्ववत्। उद्गातृवरणमाधाने वैकल्पिकम्।

यज्ञशर्माहमौद्गातृत्वेन त्वागच्छामि याज. वान् पर्जन्यो देवो दैव उद्गाता सम उद्गातोद्गातारं त्वामहं वृणे इति वृतो जपति पर्जन्यो देवो दैव उद्गाता सत उद्गाता अवसृष्टा भृग्वङ्गिरसो वा योनिवृत्तं विद्यां च प्रमाणमित्येके। न गोत्रनियम इत्यर्थः। अध्वर्युस्तत्पुरुषाश्चाकुनखिनो ब्रह्मा तत्पुरुषाश्चाकिलासिनः किलासः कुष्ठविशेषः, होता तत्पुरुषाश्चाषंढाः, उद्गाता तत्पुरुषाश्चाकरालाः, अदन्तुरा इत्यर्थः।

अत्र ब्रह्मादीनां कुनखित्वाद्यभ्यनुज्ञानमिति अत्यन्तापद्विषयम् अव्यापन्नाङ्गानेव वृणीत इति यमात्। योन्यादिसम्पन्ना ब्रह्मादयः कुनखितेनानु. ष्यामीति।

ॐ तथेति प्रतिवचनम्।

अथाग्निवरणम्

पादावुपसङ्गृह्य यज्ञशर्माहम् आग्नीध्रः कर्माणं त्वागच्छामि आग्नीध्रं त्वां वृणे इति आग्नीध्रः करिष्यामीत्याह।

ॐ तथेति प्रतिवचनम्। अग्निरसोऽध्वर्युर्वासिष्ठो ब्रह्मा वैश्वामित्रो होता अथास्य उद्गाताद्युक्ता अपि ग्राह्या इति। योनिवृत्तादिप्रशंसायां वा एतत्तात्पर्यम्। अकुनखिनमित्यादिसूत्रस्येति वृतानामृत्विजां मधुपर्कक्रमः।

शुद्धागारमध्ये एरका अस्तरिकाः प्रतिपुरुषं निधाय तासूतग्दशानिव ऊ गूसांन्यह्वातिवासांस्यास्तीर्य तेषु वृतानृत्विजः प्राङ्मुखानुपवेश्य तस्यैवागार-स्येशानदिशि प्रागग्रान्दर्भानास्तीर्य तेष्वर्घ्यद्रव्याण्यासादयति। प्रतिपुरुषं कांस्यपात्राणि समिदाधानानि स्वकूर्चे निधाय द्वावन्यौ परिग्रहार्थौ कूर्चौ कल्पयेत्। दधिमधुघृतमापः पयः पृथक्पात्रेष्वासादयेत्। प्रतिपुरुषं वस्त्रयुगानि कुण्डलयुगानि यस्या गोः पयो मधुपर्कायानीतं सा च गौः सन्निधापनीया यस्मिंश्चमसे दोहनं कृतं तं चमसमप्यासादयेत्।

अथवा चमसो भोजनपात्रपरः, स्रगलङ्करणीयं गन्धपुष्पाद्युदकुम्भं पाद्यार्थं प्रोक्षणीपात्रं प्रत्येकं दक्षिणार्थगावः सर्वेषामेका गौर्वेत्यासाद्य कृत्वा प्रोक्षणी-पात्रमुत्तानीकृत्य संस्कृताभिरद्भिः प्रोक्षतास्मतिरः पवित्रमानीय त्रिरुत्पूयात्। अन्यानि

पात्राण्युत्तानीकृत्याद्भिः त्रिः प्रोक्ष्य कांस्यपात्राणि कूर्चे सादयित्वा तेषु पात्रेषूदगग्रेषु पवित्रे निधाय मध्वानयति।

अनन्तरं दधिपयोऽन्नं वा अनन्तरं घृतमानयन्ति सत्रिवृद् दधिपयो वेत्यत्र पूर्वं मिश्रितं तद्द्वितीयं चतुर्थं भवति। एकस्य द्विरप्रयोज्यत्वात् स चतुर्वृत्।

एवं चतुर्विधो मधुपर्कः

उत्तरालाभे पूर्वस्वीकारात्। आपः पञ्चमा वृदिति शेषः। सपांक्तः पञ्चभिर्द्रव्यैर्योगाद् वर्षीयसाधारणपात्रात् पृथुतरेण तेजोमयेन पात्रेण पिधाय अत्र कांस्यपात्रेणेत्युपक्रम्य पुनस्तेजोमयेनापिधायेति वचनात्। अपिधाय पात्रं कांस्यमयं लोहमयं भवति ततोऽधिकं तानि नानापुरुषात् समादाय यजमानमन्वागच्छन्ति द्वयोः कूर्चयोर्मध्ये एकं कूर्चम् अध्वर्यवे आसनार्थं ददाति कूर्च इति तत्सुकूर्च इत्युक्त्वा प्रतिगृह्य पुरस्तात्प्रत्येकं चमसस्याधस्तादयो गूहति राष्ट्रभृदस्याचार्यासदीमात्व-द्योषमिति।

तत उदपात्रं कूर्चाभ्यामधस्तादुपरिष्टाच्च परिगृह्य पाद्या आप इति प्राह ता अभिमन्त्रयते आपः पादावनेजनीर्द्विषन्तं निर्दहन्तु मे। अस्मिन्कुशे ब्रह्मचर्यसाविति। ततो दक्षिणं पादं पूर्वं प्रसारयति स्त्री प्रक्षालयति पुमानभिषिञ्चति विपरीतमेके पादावनेक्तुः पाणी संमृशति मयि महोमयि भगोमयि भर्गोमयि यश इति। अप उपस्पृश्यात्मन उरोऽभिमृशति मयीन्द्रियं मयि वीर्यं मयि वर्च इति।

ततः पात्रान्तरे अप आनीय व्रीहिभिर्यवैर्वा समुदा युत्य कूर्चाभ्यां परिगृह्य अर्हणीया आप इति प्राह ता अभिमृश्य ब्रूयात्। आप आगाद्वर्चसा यशसा स ꣳ सृज पयसा तेजसा वातं मा प्रियं प्रजानां कुर्वधि पतिं शुना इनामिति, तासामपामेकदेशमञ्जलावानीयानुमन्त्रयते विराजोऽसि विराजो दोह मम पद्यायै विराजेति यजमानस्ताः पराचीर्नीयमाना अपोऽनुमन्त्रयते समुद्रं वः प्रहिणोम्यक्षिता स्वां योनिमपि गच्छतः, अच्छिद्रः प्रजया भूया संमापरासेचि मत्पय इति।

पुनरपि पात्रान्तरे अप आनीय कूर्चाभ्यां परिगृह्योपस्तरणीया अप इति प्राह। ता अप आदायाचामेत्। अमृतोपस्तरमसीति सकृन्मन्त्रमिममुक्त्वा त्रिः पिबेत् त्रिः परिमृजेत्।

द्विरित्येकेशे समाप्याचान्ताय कूर्चाभ्यां मधुपर्कपात्रं परिगृह्य मधुपर्क इति वा अर्घ्य इति वा प्राह मधुपर्कमकि मन्त्रयते। त्रय्यै विद्यायै यशोऽसि यशसो यशोऽसि।

ब्रह्मणो दीप्तिरसि तं प्रियं प्रजानां कुर्वधिपतिम्। पशूनामिति तमुकाभ्यां हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति देवस्य त्वास. स्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति। तत्र यत्किञ्चित्तृणादिकमापतितं चेद्दक्षिण-हस्तस्याङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया महानाम्न्या, उपसंगृह्य नैर्ऋत्यां दिशि निरस्यति। निष्ठावित्कृतामिया ते घोरा तनूस्तया तमाविशयोस्मन्द्वे. द्विष्म इति अप उपस्पृश्य सर्वाभिरङ्गुलीभिर्मिश्रीकृत्य प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यं परमन्नाद्यं वीर्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेणान्नाद्येन वीर्येण परमोऽन्नादो मधव्योऽसानिति सकृदेव मन्त्रमुक्त्वा त्रिः प्राश्नाति प्राशितमनुपात्रेणैव त्रिः पिबेत्, न सर्वं शेषमात्मनः प्रियाय दद्यात्। यजमानः पात्रान्तरे अप आनीय कूर्चाभ्यां परिगृह्य पिधानीया आप इति प्राह। इतरस्ताः पिबेद् अमृतापिधानमसीति। उदङ्मुखः पूर्ववदाचम्य प्राङ्मुख उपविशेत्। यजमानः कृताञ्जलिर्गौरिति गां दर्शयति गौरस्यपहतपाप्मा पाप्मानं मम चामुष्य चेति यजमानस्य नाम षष्ठ्यन्तं गृह्णाति तां यद्युच्छजत् भवति, तदाभिमन्त्रयते गौर्धेनुर्भव्या माता रुद्राणां दु. न्यतु ॐ मुत्सृजतेति।

अथास्मै पिष्टान्नं सिद्धं भूतमिति प्राह, इतरः सुभूतमित्युक्त्वा तदभिमन्त्रयते भूत ँ सा विरा उन्नतन्माक्षायितन्मेशीयततन्म ऊर्जधाः। ॐ कल्पयतेति चतुरोनागागोत्रानु ब्राह्मणान् भोजयेद् इति ऋत्विग् ब्रूयात्। तेषु भुक्तवत्स्वन्नमस्मा उपहरति तत्प्राश्नाति आचम्य विरा उसिविरा उंनं विराड्विराजोमयिधो हैति।

अथ वस्त्रयुगं कुण्डलयुगं दोग्ध्रीगां स्रगलङ्करणानि च यथासम्भवं दद्यात्।

अथाग्न्यायतनम्

इष्टदेशे आगारं दीर्घचतुरस्रं समचतुरस्रं वा भवति। तस्य प्राच्यां दक्षिणस्यां दिशि द्वारद्वयं वास्तुशास्त्रोक्तक्रमेण कल्प्यम्। तत्रागारमध्ये गार्हपत्यस्यायतनम्।

अथ वेदिमानक्रमः

गार्हपत्यमध्यादारभ्य द्वादशप्रक्रमे द्वादशपदे वा प्रक्रमाष्टके पदाष्टके वा आहवनीयमध्यदेशः। एषामन्यतमायामां रज्जुं पञ्चधा षोढा वा संभुज्य षष्ठं सप्तमं वा भागमागन्तुकं संयोज्योभयतःपाशां कृत्वा पुनः पञ्चधा सभुज्यापरस्मांद् दन्ताद् भागद्वयेऽतीते लक्षणं कृत्वा गार्हपत्याहवनीयशङ्कोः पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणे गृहीत्वा दक्षिणाकृष्यलक्षणे शङ्कुं निहन्यात्। एवमुत्तर आर्जवार्थं दक्षिण-शङ्कोरुदग्द्वादशतिलाधिकागुणद्वये शङ्कुं निहन्यात्। सदणाग्नेर्मध्यशङ्कुः पञ्चदशाङ्गुलां रज्जुमुभयतःपाशां कृत्वा एकं दक्षिणाग्निमध्यशङ्कौ प्रतिमुच्य मण्डलं तया रज्वा

परिलिखेत्। मण्डलस्योत्तररेखायाः शङ्कोरञ्जसान्यं शङ्कुं निहत्य तस्मिन् पाशं प्रतिमुच्य पूर्ववद् मण्डलान्तरं परिलिखेत्। तयोर्मण्डलयोः संसर्गप्रदेशयोः सन्धी नियम्योत्तरं पार्श्वमुत्सृजेत्। दक्षिणं पार्श्वं दक्षिणाग्नेरायतनं पञ्चभ्यस्तां रज्जुं व्यत्यस्तपाशां कृत्वा लक्षणे गृहीत्वोत्तरत आकृष्य लक्षणस्थाने शङ्कुः स उत्करो भवति।

गार्हपत्यमध्यशङ्कोरुभयतःपाशां सार्धत्रयोदशाङ्गुलाऽऽयामां रज्जुं प्रतिमुच्यत या मण्डलं परिलिखेत्। तद्गार्हपत्यायतनम्। आहवनीमध्यशङ्कोः पश्चात्पुरस्ताच्च प्रादेशे शङ्कुं निहन्यात्। अरत्निद्वयायामां रज्जुमुभयतःपाशां कृत्वा पाशादारभ्य द्वादशाङ्गुले अष्टादशाङ्गुले च लक्षणं कृत्वा आहवनीयपूर्वापरयोः शङ्क्वोः पाशौ निदध्यात्।

यथा दीर्घांशोच्छ्रयः स्याद् द्वितीये लक्षणे गृहीत्वा दक्षिणाकृष्यस्य प्रथमे लक्षणे शङ्कुं निहन्यात्। एवमुत्तरतः पाशौ व्यत्यस्य द्वितीयेन लक्षणेन दक्षिणाकृष्य प्रथमलक्षणे शङ्कुं निहन्यात्। एवमुत्तरतः। एतच्चतुरस्रमाहवनीयायतनम्। आहवनीयस्यापरस्माच्छङ्कोः षण्णवत्यङ्गुले शङ्कुस्तत्र क्षेत्रमाहवनीयवत्। समचतुरस्रं विधाय षण्णवत्यङ्गुलनिहितशङ्कोर्दक्षिणतो द्वात्रिंशदङ्गुले शङ्कुः। एवमुत्तरतस्ते श्रोणी आहवनीयस्य मध्यशङ्कोर्दक्षिणत उत्तरतश्चतुर्विंशत्यङ्गुलशङ्कुस्तावसौ षण्णवत्यङ्गुलां रज्जुगुणामुभयतःपाशां मध्ये लक्षणं कृत्वा दक्षिणश्रेण्यां सशङ्कोः पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणं गृहीत्वा दक्षिणाकृष्य लक्षणे शङ्कुं निहन्यात्। उभौ पाशौ समस्य लक्षणं शङ्कौ प्रमुच्य मुच्यनदक्षिणश्रोणीशङ्कोरारभ्य दक्षिणां स शङ्कुपर्यन्तं लिखेत्। एवमुत्तरपार्श्वं परिलिखेत्, पूर्वपार्श्वमपरं च स्वप्रमाणद्विगुणरज्ज्वैवं परिलिखेदेषा वेदिर्दर्शपौर्णमासिकी। प्रागेव यज्ञपात्राणि सम्पात्राणि सम्पादनीयानि। अरण्यौ चाधानकाले यथाशुष्के भवेताम्, तथा प्रागेव सम्पादनीये तेषां लक्षणानि विधिवैधोक्तक्रमेण विविच्योच्यन्ते—

हस्त्योष्ठ्यो हंसमुख्यश्च तथा वायसपुच्छकाः।

त्रिः प्रकाराः स्त्रजो ज्ञेयाः प्रकारास्ते विकल्पिताः॥

अग्निहोत्रहवनीयजुहूपदध्रुवावसाहोमहवनीपृषदाज्यधानीप्रचरण्यादीनानेकाकाराः स्रुक्स्रुवायामाकारविकल्पः। हस्त्योष्ठ्यो वदासेवनवहस्त्योष्ठ्यायाः। एवं हंसमुख्यो वायसपुच्छका अपि तत्र हस्त्योष्ठ्याया विलमष्टाङ्गुलं कार्यं हंसमुख्या वायसपुच्छकाया अपि विलं पञ्चाङ्गुलं चतुरङ्गुलं त्र्यङ्गुलं वा कार्यम्। एतेषामायामः प्रोशासलबाहूनामन्यतमा द्वेधा विदारितस्यापि वृक्षस्य त्वक्स्थान एवासेचनस्थानं वृक्षस्याग्रे प्रादेशमात्राश्चास्य रत्निमात्राभ्युदण्डस्त्वायामार्द्धेन कार्यः।

यथाप्रमाणं विलावशिष्टमग्रं भवति। बाहुमात्रे तु दण्डस्यैवाभिवृद्धिः, यथाशोभं वेत्याचार्यवचनात्। उक्तायामनतिक्रमेण यथाशोभं विलादीनि सर्वाणि कार्याणि स्रुवस्त्वरत्निमात्रः अङ्गुष्ठपर्वमात्रवृत्तविलः। धृष्टिर्मेक्षणं चारत्निमिते चतुरङ्गुलविस्तृते समाग्रे कार्ये उलूखलं द्वादशाङ्गुलं तदर्धविस्तारमरत्निमितं तदर्धविस्तारम् अरत्निद्वयविस्तारम् अरत्न्यायामं वा कार्यं तत्त्रिगुणायामो मुसलः प्राशित्रहरणं प्रादेशमात्रे गोकर्णाकृति चतुरङ्गुलं कार्यं स्फ्यः खङ्गाकारः चतुरङ्गुल-विस्तारः अरत्निमात्रः चमसाः प्रादेशमात्राः चतुरङ्गुलदण्डाः अष्टाङ्गुलचतुरस्रविलाः कार्याः।

शम्या षट्त्रिंशदङ्गुलाष्टाङ्गुलकं बुकाग्रा कार्या। इडापात्रं दारुपात्रं च अरत्न्यायतं प्रसृताङ्गुलिपादविस्तृतं चतुरङ्गुलदण्डं चतुरङ्गुलखातविले कार्ये, गोदोहनं चतुरङ्गुलदण्डं प्रादेशमात्रमष्टाङ्गुलं वर्तुलं कार्यम्। पिधान्यपि तादृशदण्डरहिता कार्या वैकङ्कत्यग्निहोत्रहवनी ध्रुवा च खादिरस्रुवः पालाशमय्यः जुहूवसाहोमहवनीप्रचरण्यः, इतराण्यहोमार्थानि वा सरसानि सौमिकाश्चम-सानैरुय्यग्रोधाः। तदभावे औडुम्बराः सौमिकाग्रहदधिधर्मधानीप्रभृतीन्यौडुम्बराणि अन्यानि कर्मविशेषनियतानि तत्तत्प्रकरणे वक्ष्यामः।

अथारण्याहरणविधिः

अग्न्याधानात्पूर्वं शरदि हेमन्ते वारणीम् आहरेत्। अरण्याहरणात्पूर्वस्मिन् दिवसे कृतमङ्गलः पुण्याहं वाचयित्वा ग्रामाद्बहिः प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य यत्र कुत्र वा श्वेतप्ररोहो नातिजठरोऽश्वत्थवृक्षः शमीगर्भो अशमीगर्भो वा विद्यते, तत्र गत्वा अरणीम् आहरति चतुरङ्गुलोत्सेधां द्वादशाङ्गुलविस्तारां षोडशाङ्गुलायामां प्रादेशमात्रां समां चतुरङ्गुलोत्सेधां वाऽरणीं कुर्यात्। तावतीमेवोत्तरारणीं कुर्यात्। उत्तरारण्याः सकाशात्प्रह्वग्निमन्त्रं प्रजानं कुर्यात्। अरण्योरुत्तराधरभावो विदारित-वृक्षस्कन्धोत्तरभागविबन्धः। अविदारिते यथेच्छम् उत्तरारण्यावसाने त्वधरारण्या एव प्रजननं कार्यम्।

अत्र ऋत्विजो देवयजनं याचते। अथाध्वर्य्वादयो यद्यनेन गार्हपत्यस्थानमुपविश्य जपन्ति। इडादेवहूर्मनु. मदन्तु इति।

अथाध्वर्युः स्फ्यमादाय यजमानपत्नीभ्यां सहोदग्देशेन वद्युत्करावन्तरेण प्रविश्य जघनेन गार्हपत्यन्तिष्ठन्। यजमानेनाचाख्यो प्राचीं गार्हपत्यस्यायतनमुद्धन्ति।

उद्धन्यमानमस्या अमेध्यमपपाप्मानं यजमानस्य हन्तु शिवा नः सन्तु प्रदिशश्चतस्रः शन्नो माता पृथिवी कसातेति।

अथैनमद्भिरवोक्षति शन्नो देवी. वन्तु न इति। एवं दक्षिणाग्न्याहवनीययोः सभ्यावसथ्ययोश्च क्रमादुद्धननावोक्षणे कुर्यात्। उद्धननप्रभृतिविराजक्रमोपस्थानां तं सर्वं सह याजमानं सम्भारानाहरेत्। ते च सम्भाराः पार्थिवा वानस्पत्याश्चेति द्विविधाः। सिकताश्च अरण्यायां सुमृत्तिका ऊषाश्च ऊषरमृत्तिका आखूत्करः मूषकविलमृत्तिका वल्मीकवपा वल्मीकवदनमृत्तिका सूदं महाह्रदमृत्तिका तदभावे कुलीरसुषिरमृत्तिका अरण्यवराहता वराहदंष्ट्रोत्खाता पुष्करपर्णं पलिनीपत्रम्, अस्य वानस्पत्यत्वात् पार्थिवेषु गणनं शर्करा इत्यष्टौ पार्थिवाः।

अथ वानस्पत्या

अश्वत्थोडुम्बरश्च पर्णश्च पलाश इत्यर्थः, शमी च विकङ्कतश्च अशनिहतश्च शमीगर्भादरणी शम्या परिवृतोऽश्वत्थः, शमीगर्भस्तत्सम्बन्धिन्यावरणी पूर्वोक्तलक्षणो मुञ्जकुलायं मुञ्जकुलनिर्मितं पक्षिविशेषाणां नीडं मुञ्जपुष्पं वा जीर्णपर्णं वा आचार्येण द्वैधः काण्डेऽभिहितं नाशनिहितं कुर्वीत घोररूपमिति कुर्वीतैव वा शनिहितं न तु मुञ्जकुलायं न ह्येतस्या मुख्यत्वमित्यायत इति।

चित्रियस्याश्वत्थस्य त्रिसूः समिधः आर्द्राः सपालाशाः सप्रदोहाः प्रादेशमात्रा अप्रतिशुष्काग्राः चित्र्योऽश्वत्थः ग्रामादेश्चिह्नभूतः प्रसिद्धो वा षट् हिरण्यशकलानि त्रीणि सौवर्णानि त्रीणि रजतानि रजतस्यापि हिरण्यत्वं तस्माद्रजतं हिरण्यमित्याम्नातात्।

एवं सम्भृतान् सम्भारान् अन्तर्वेदि प्राचीनास्तान्मन्त्रानानुपूर्व्यमेकैकं सम्भारमेकैकेन यजुषा सरति वैश्वानरस्य रूपं पृथिव्यां. विशंतु न इति सिकताः यदिदं दिवोदद:. भूवतः। उषान्कृद्मम. गरिष्ठाः इत्यूषात् उतीः कुर्वा. प्रतीत्य तत्तेन्यक्तमिह. सवीरा इत्याखूत्करम्। ऊर्जं पृथिव्या रसमा. पुरूचीः वम्रीभिरनुवित्तं. भवामः। इति वल्मीकवपा. प्रजापति सृष्टा. नो अस्तु उपप्रभिन्नमिष. भरामि इति सूदं यस्य रूपं बिभ्रदि. रस्यमध्ये तस्येदं विहत. विधेम इति वराहविहतं यत्पर्यपश्यत्सरि. प्रतिष्ठां तत्पुष्करस्यायत.।

प्रथन ॐ हरामि इति पुष्करवर्णं याभिरह ॐ ह. जनस्य भर्त्री ता नः शिवा शर्क. सर्वा इति शर्कराः अग्नेरेतश्चन्द्र ॐ हिरणमय. सु तत्संभरं नु. तरेयम् इति हिरण्यशकलानि अश्वोरूपं कृत्वाय. निलाय तत्तेन्यक्तमिह सं. शरदः सवीरा इत्यश्वत्थम्। ऊर्जः पृथिव्या अध्यु. विरोह त्वयाव यमिष. मदेम इत्यौडुम्बरम्।

गायत्रि या हि. दिवोधि सोऽयं पर्णः. वरूथ्यै देवानां ब्रह्म श्रुतोऽसि ततो

मामाविशतु. यः साक्षाद् इति द्वाभ्यां पर्णमयं ययाते सृष्ट. त्प्रजापतिः तामिमाम. हराम्यहम् इति शमीमयं यत्ते सृष्टस्य यतो वि. ज्जातवेदः, तयाभासा सं. प्रभाहि इति विकङ्कतम्। यतेतां तस्य हृदय. स्तमथित्वा एतत्ते तद. भवेह इत्यशनिहतम्, चित्रियादश्वत्था. स ꣳ स्कृतास्थ। प्रजापतिना. प्रजात्यै इति चित्रियादश्वत्थसमिधः त इह सम्भरामि, इति मुञ्जकुलायम्।

अश्वत्थाद्य व्यवाहा. या ꣳ सम्भरामि शान्तयोनि ꣳ शमी. यितवे यो अश्वत्थः. त्वे स च तं ते हरामि ब्र. केतुभिः सह इति द्वाभ्यामरणीसम्भृतान् सम्भारान् पुनरपि सम्भरति यं त्वा समभरं जातवेदः षुन्यक्तं सुसं भृतसीदशि. विद्वान् इति ततः सम्भरानरणी मुञ्जकुलाय चित्रियाश्वत्थहिरण्यशकलव्यतिरिक्तांस्त्रेधा विभज्य निदध्यात्।

अथ गोपितृयज्ञः

विहारस्य दक्षिणतः परिश्रितदेशे प्राङ्मुखस्यासीनस्य यजमानस्य दक्षिणे गोदानप्रदेश ऊर्ध्वाग्राणि त्रीणि दर्भपिंजूलानि निधाय केशादिनखनिकृन्तनान्तं करोति।

वपेत्रवपेद्देवेन सवित्रा प्रसूतो ब्रह्मणास ꣳ शितोऽहमिति यजमान उप्तप्रदेश-मभिमन्त्रयते। यानि म अत ऊर्ध्वं लोमानि तानि मे स्वस्तये सन्त्विति। पत्न्या अभिमन्त्रवर्जं केशव्यतिरिक्तोपपक्षादिवपनं यजमानमुदकुम्भेनाभिषिञ्चन् वाचयति—

इमाम् आपः शिवाः सन्तु दुष्कृतं प्रवहन्तु मे शुद्धाः प्रयुञ्जीमहि क्रतूनिति। तूष्णीं पत्नी पयति स्नातौ पत्नीयजमानौ प्राग्देशं गत्वाऽहतं वासः परिधायालङ्कृत्यां जाते, अथाध्वर्युर्यजमानम् एकविंशतिकुशं पिञ्जूलैस्त्रेधा विभक्तैः शिरोनाभिं गुल्फदेशं च क्रमात्तूष्णीं पावयित्वाऽध्वर्युरुदपात्रमादाय पत्नीयजमानाभ्यां सह गत्वा नैर्ऋत्यां दिशि चतुष्पथ उदपात्रे परिस्तृते आत्मानमवेक्ष्यमाणं यजमानं ब्रह्मदक्षिणत आसीने वाचयति—

सि ꣳ हे मे मन्युरित्यनुवाकं पर्यवेक्ष्यमाणास्ते ब्रह्मापि दक्षिणतस्तूष्णीमास्ते। ततो निनीयापो नैर्ऋत्योर्दिशि निरस्य द्वेष्यस्य वा पात्रं परास्याप उपस्पृश्या-नवेक्षमाणो यथा गतं प्रदक्षिणमावृत्यागत्य हस्तपादप्रक्षालनाचमनानन्तरं पवमानः सुवर्जन इत्येतमनुवाकं यजमानं वाचयन्नात्मानं यजमानं पत्नीं चाद्भिः प्रोक्षति।

अथ यजमानः प्राचीनावीती 'गोपितृयज्ञं करिष्ये' इति सङ्कल्प्य लौकिकमग्निमाहृत्यान्वाहार्य पचने (वचने) प्रणीय ज्वलयित्वा परिस्तीर्य पवित्रे

कृत्वाज्यस्थालीं स्रुवं च सादयित्वा प्रोक्ष्याज्यं संस्कृत्याहार्य पचनस्योत्तरतः सादयति।

चतुर उदकुम्भानौदुम्बरीं दर्वीं दक्षिणतोऽग्नेः सकृदाच्छिन्नं बर्हिः एकरकोपबर्हणे अञ्जनाभ्यञ्जने पात्रान्तरे लौकिकम् आज्यं स्फ्यन्दशाव्यतिरिक्तं सूत्रं प्रक्षालिते उलूखलमुसले कृष्णाजिनं शूर्पं चरुस्थालीमेक्षणम् आज्यस्थालीं प्रोक्षणीमिति।

एरकादीनां दक्षिणतोऽधिदेवनं स्थानं कृत्वोद्धत्या वीक्ष्य एकोनपञ्चाशत्संख्याकानक्षान्बैभीतकान्निधाय तद्दक्षिणत पिण्डनिर्वापस्थाने स्फ्येन दक्षिणापवर्गां रेखां करोति।

अपहता असुरा रक्षाᳬसि पिशाचा ये क्षयन्ति पृथिवीमनु अन्यत्रेतो गच्छन्तु यत्रैतेषां गतं मन इति।

अथैनां रेखामद्भिरवोक्षति उदीरतामवर. सोम्यासः असूं य ई यू. हवेष्विति। अथोल्मुकमादत्ते य आददानाः स्वधया नवानि पित्र्याणि रूपाण्यसुराश्चरन्ति परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठानस्मान्प्रणुनोक्तु यज्ञादिति।

तेनोद्धतं दशमभितपति अ॒ग्निः पावकः सूदिनानि कृण्वं नितो सूरान्नुदतां दूरमोकसः। पितॄणां ये वर्णं कृत्वेह भागमिच्छन्ति उल्मुकमग्निसमीपे पृथङ्निदध्यात्।

अमुष्मिन् नाज्यबिन्दुं श्च्योतयति। तत उद्धननदेशे दक्षिणाग्रं बहिरास्तृणाति सकृच्छिन्नं बर्हिरूर्णा मृ उस्यो नं पितृभ्यस्त्वा स्तृणाम्यहम्। अस्मिन्सीदन्त मे. श्चानुगैः सहेति।

अथ बर्हिर्हस्त उत्थाय प्राञ्जलिः द्वौ दक्षिणामुखः पितॄनावाहयति, उदीरणा इह सन्तु नः सोम्याः पितरः पितामहाः प्रपितामहाश्चानुगैः सह अनुङ्गमाः सत्ययुजो वृकास आनो॒हवं पितरोद्यागमं तु। एह गच्छन्तु पितरो हवि वे अत्तवे, अस्मिन्यज्ञे बहिष्यां निषद्यमावीरः प्रमायुनमिति बर्हिर्निधाय पितॄणां दक्षिणतः पुरस्ताद्वा एरकोपबर्हणे दक्षिणतोत्तरे निदधाति। आसन ᳬ शयनं चैतयोः सौम्या स आगताः, प्रियाजनायनो भूत्वा शिवा भवथ शङ्करा इति।

एकेनोदकुम्भार्द्धेन॒ तूष्णीं मार्जयति, अंथैभ्यः पानान्याहरति मधुपानं क्षीरपानं सक्तुपानं यद्वा भवति। अस्यायमर्थः—पानानि त्रीणि यद्वा भवन्ति इत्यनेनैतेषां अन्यतमाद्वा यदा त्रीणि तदा एकैकं पात्रद्वये सम्भरणीयमिति षड् भवति। एकैकं

च पात्रद्वये सम्भरणीयं सक्तुपानमद्भिः पयसा वा मिश्रितं भवति। तत्र षट्सु त्रितयं ब्राह्मणेभ्यः अवशिष्टं त्रितयमेकैकं प्रत्येकं त्रिधा कृत्वा एतद्वः पितरः पानमेतद्वः पितामहाः पानमेतद्वः प्रपितामहाः पानम् एवं त्रिरावृत्य नवकृत्वः स्त्रीर्वा दद्यात्। इत्येकपक्षः। यद्वा एतद्वः पितरः पानमिति मन्त्रं सकृदुच्चार्य त्रीण्यपि पानानि दद्यात्, एवं पितामहप्रपितामहयोरपि।

अथवा त्रीण्यपि पानान्येकस्मिन्पात्रे निधायानुषङ्गेण नवकृत्वो दद्यात्। एकपानपक्षे षोढाम्मन्य पूर्ववदेव दानं द्वेधा विभागपक्षेऽप्येवं त्रेधा विभज्यानुषङ्गेण दानम्।

अथाकल्पपादो वासकृदेवमुच्चार्य सकृदेव दानमिति। अत्र पूर्वमार्जितशेषेणोदकुम्भेन तूष्णीं मार्जयति, पानकर्मणः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च उपरिष्टादेव वा। अथासादितानक्षान् परितश्चत्वारः पितापुत्राः पूर्वादिप्रादक्षिण्येन यथाज्येष्ठमुपविशन्ति। अनुजा बहवश्चेत्। उत्तरदेशे तत्र द्वादशाक्षान् पिता कर्षति तेन विजयते, एवं ज्येष्ठानुजाः, एते त्रयो विजयिनः समसंख्याकर्षणात् कनीयान् पराजितः। विषमसंख्याकर्षणाद् अथ यदि द्वौ पुत्रावेव स्यातां तदा पिता चतुर्विंशत्पक्षान् द्विरावृत्त्याहरेत्।

अथैकं पुत्रस्तदा जाया तृतीया तत्राप्येष एव विधिः, पुत्राभावे ज्ञापयती एव। तदा प्रत्येकं द्विवारमाकर्षतस्तदा पत्नी पराजिताश्च भवति विषमसंख्याकर्षत्।

कृतं कृतमित्येवं व्यवगच्छन्ति कृतं कृतमिति मन्त्रानुच्चारयन्तोऽक्षान्कर्षन्तीत्यर्थः।

कृतं कृतमिति पराजितो जपेद् इति केचित्। द्यूतकर्मावसाने कृतं कृतमिति च सर्वेषां जप इत्यन्ये, एवं वारत्रयं कृत्वा द्यूताद्गौरित्युक्त्वोत्तिष्ठन्ति।

कलियुगे गवालम्भनाभावाद्दोहनपक्ष एवोच्यते। तदा द्यूत ओदन इति वक्तव्यम्। पितैव विजयी जितमोदनं निर्वपति। पितृभ्यस्त्वा पितामहेभ्यस्त्वा प्रपितामहेभ्यस्त्वा जुष्टमुपाकरोमि इति व्रीहीन् निर्वपति, सकृदेव प्रोक्षति, पितृभ्यस्त्वा पितामहेभ्यस्त्वा प्रपितामहेभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तूष्णीं वा कृष्णाजिन उलूखलमुसले निधायावहत्य सुफलीकृतान्प्रक्षाल्य तण्डुलोदकमपि पात्रान्तरे निधाय चरुमाज्यं चाधिश्रित्य उभयं पर्यग्नि कृत्वा चरोरुपरिष्टात्प्रभूतमाज्यं पयो वानीय स्रुवं च दर्वीं च सम्मृज्याभिघार्योद्वास्य वपाहोमार्थं चरोरेकं पिण्डमुद्धृत्य पञ्चस्रुवाहुतीर्जुहोति, याः प्राचीः सम्भवन्त्या उत्तरतश्च या अद्भिर्विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीभिरन्तरं न्यपिदधे स्वधा नमः स्वाहा पित्र इदं न मम, अन्तर्दधे पर्वतैरन्तमह्या

पृथिव्या दिवादिग्भिरनन्ताभिरूतिभिरन्तरं न्यपितामहाद्दधे स्वधा नमः स्वाहा पितामहायेदं. अन्तर्धूध ऋतुभिः सर्वैरहोरात्रैः ससन्धिकैः।

अर्धमासैश्च मासैश्चान्तरन्यं प्रपितामहाय स्वधा नमः स्वाहा, प्रपितामहायेदं. यन्मे माता प्रलुलोभ चरत्यननुव्रता तन्मे रेतः पिता वृंक्ता माभुरन्योपपद्यता ॐ स्वधा नमः स्वाहा पित्र इदम्। यद्वः क्रव्यादं गमदहल्लोकान्नयन्प्रणयं जातवेदाः। तद्वोहं पुनरावेशयाभ्यरिष्टाः सर्वैरङ्गैः सम्भवत्। पितरः स्वधा नमः स्वाहा पितृभ्य इदम्। ततो वपाहोमार्थं पिण्डं त्रेधा विभज्य उपस्तरणाभिघारणवर्जमौदुम्बर्या दर्व्या जुहोति। सोमाय पितृमते श्रुष्मिणे जुहोमो हविः वाजि निदं जुषस्व नः स्वजा हव्यं देवेभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः स्वाहा सोमाय पितृमत इदम् अङ्गिरस्वं तमूतये यमं पितृमन्तमाहुवे वैवस्वतेदमद्धिनः स्वजा हव्यं देवेभ्यः पितृभ्यः स्वाहा नमः स्वाहा।

यमायाङ्गिरसे पितृमत इदं. यदग्नेकव्य. ता वृधः प्रदेवेभ्यो वहहव्यं पितृभ्यश्च स्वजा हव्यं देवेभ्यः पितृभ्यः स्वधा नमः स्वाहा अग्नये कव्यवाहनायेदं. इति पिण्डत्रयं हुत्वा तूष्णीं दर्वीमग्नौ निधाय ततः पिण्डान् कृत्वा द्वितीयस्योदकुम्भस्याद्धोंदकेन तेषु त्रिषु स्थानेषु तूष्णीं मार्जयित्वा पिण्डानुपस्तीर्णाभिघारितान् ददाति। एतत्ते पितः देवदत्तशर्मन् ये च त्वामनुया ॐ श्चत्वमस्यान्यस्यैषा ते ततः स्वधाक्षितिर्यावती पृथिवी तावती ते मात्रावतीं त एतां मात्रां भूतां ददामि पृथिव्यामि तमसि तताय मामेक्षेष्ठा इति प्रथमं पिण्डं दद्यात्।

एतत्ते पितामहदेवदत्तशर्मन् ये च त्वामनुया ॐ श्चत्वमत्रान्वस्यैषा ते पितामहं स्वधा क्षितिर्यावदन्तरिक्षं तावती ते मात्रा तावतीं त एतां मात्रां भूतां ददाम्यन्तरिक्षेण मितमसि पितामहाय मामेक्षेष्ठा इति द्वितीयं पिण्डं ददाति। एतत्ते प्रपितामहदेवदत्तशर्मन् ये च त्वामनुया ॐ श्चत्वमत्रान्वस्यैषा ते प्रपितामह स्वधा क्षितिर्यावती द्यौस्तावती ते मात्रा तावतीं त एतां मात्रां भूतां ददामि दिवा मितमसि प्रपितामहाय मामेक्षेष्ठा इति तृतीयम्।

अत्र पितरो यथाभागं मदध्वम् इत्युक्त्वा द्वितीयस्योदकुम्भस्य शेषेण पूर्ववन्मार्जनम्, तृतीयोदकुम्भमादाय तृतीयोदकुम्भजलं तण्डुलप्रक्षालनोदकेन सहालोड्य भूमौ पिण्डसमीपे प्रवाहयेत्। या निरक्षा ॐ सिसृग्भागानि ये चापि पितरो हरतां विहरतां तृप्यन्तु रुधिरस्य ते ये नः पतितो गर्भा असृग्भाग उपासते तेभ्यः स्वजाः स्वधा नमस्तृण्णुवन्तु मदन्तु च। य आद्या ये च पक्वा ये च दुष्टाः पतन्ति, तेभ्यः स्वजाः स्वधा नमस्तृण्णुवन्तु मदन्तु च ये मारा याः स्त्रियो ये विज्ञाताः पतन्ति नमस्तेभ्यः स्वजाः स्वधा नमस्तृण्णुवन्तु मदन्तु चेति। ततः

पिण्डसमीपमागत्य आञ्जनं ददाति आञ्जतां पितर आञ्जतां पितामहा आञ्जतां प्रपितामहा इति।

अथाभ्यञ्जनम्

अभ्यञ्जन्तां पितर अभ्यञ्जन्तां पितामहा अभ्यञ्जन्तां प्रपितामहा इति। अथ वासांसि ददाति।

एतानि वः पितरो वासाꣳस्येतानि वः पितामहा वासाꣳस्येतानि वः प्रपितामहा वासाꣳस्येति त्रीणि सूत्राणि छित्वा ददाति।

अथवद्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारैर्विपर्यासमुपतिष्ठते, नमो वः पितरो रसां य पितरो नमो वो यम् एतस्मिल्लोकेस्थ. भूयासमिति, इतः परं पञ्चसूमन्त्रेषु यथाक्रमं नमो वः पितरः श्रुष्माय पितरो नमो वो. नमो वः पितरो जीवाय नमो वो. नमो वः पितरः स्वधायै पितरो नमो वो. नमो वः पितरो मन्यवे पितरो नमो वो. नमो वः पितरो घोराय पितरो नमो वो. इत्येतेषु पितरो नमो व इत्याद्यनुषज्योपतिष्ठते।

अथ पुत्रं याचते

वीरं मे पितरो दत्तं पितृमानहं युष्माभिर्भूयासꣳ सुप्रजसो मया यूयं भूयास्त, एवं पितामहा दत्तपितृमा. प्रपितामहा दत्तपितृमानित्याद्यनुषङ्गः।

अथैतान्पितृन् उत्थापयति उत्तिष्ठत पितरः प्रेतशूरा यमस्य पन्थामनुयाता पुराणं धत्तादस्मासु द्रविणं देवतासु इति, अथैतान्पितृन्स्वस्थानं नयन्मनसाता ननु गच्छति, यं तु पितरो यथालोकं मनसा जवेन परेत पितरः सोम्या गम्भीरैः पूर्व्यैः।

अथापितृ, मन्दन्तीति, अथ तिसृभिर्ऋग्भिरनुगतमन आह्वयेत्, मनो चाहुवा. स्तोमेन पितृणां च मन्मभिः आत एतु मनः, जीवसे ज्योवच सू. शे पुनर्नः पितरो. व्योजनः जीवं व्रा. महीति।

अथ यजमानः स्वपरिगृहीतं वासो गोपितृयज्ञविदे ब्राह्मणाय तदैव दद्यात्।. अन्यत्परित्यागार्हं वासः परिधायाचम्य दक्षिणां दिशं गत्वा चतुर्थेनोदकुम्भेन स्नायात्।

यातु गन्धारसावर्णा बलं च निहते उभे।
ता म आपः शिवाः सन्तु दुष्कृतं प्रवहन्तु मे॥

या सामिमेत्रयो लोकास्तेजसा यशसावृताः।

ता म आपः शिवाः सन्तु दुष्कृतं प्रवहन्तु मे॥

याः प्राचीरेवतीर्मधुमतीरापः स्त्रवन्ति शुक्राः॥

इत उत्तरत्र या दक्षिणायाः प्रतीचीर्या उदीचीर्या ऊर्ध्वा इत्येतेषु रेवतीर्मधुमतीरापः स्त्रवन्ति शुक्राः।

ता म आपः शिवाः सन्तु दुष्कृतं प्रवहन्तु मे। इत्यनुषङ्गः। एवं मार्जनं कृत्वाचम्य तदपि वासः परित्यज्य क्षौमं वासः परिधायाचम्य प्राजापत्यं यच्च यज्ञोपवीत्यग्नेः समीपमात्यमुद्गच्छति।

प्रजापते न त्वदेता बभूव यत्कामास्ते रयीणामिति पूर्वं पृथक्कृतमुल्मुकमग्नौ प्रक्षिपति। अभूदूतो हविषो जातवेदा अवाद्कव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः. अक्षत् प्रजानन्नग्ने पुनरेष्येतु देवानिति ब्राह्मणेभ्यः पिण्डानोदनं च दत्वाध्वर्युस्तस्मिन्नेवाग्नौ यजानभ्यातानाद् राष्ट्रभृत इति ऊत्वामात्यहोमान् जुहोति। ते च प्रदृश्यन्ते चित्तं च स्वाहा चित्तायेदं. चित्तिश्च. चित्ताये. आकूतं च. आकूताये. आकूतिश्च. आकूत्या इ. विज्ञातं च. विज्ञाताये. विज्ञानं च. विज्ञानाये. मनश्च मनस इति. शक्वरी. शक्वरीभ्य. दर्शश्च, दर्श्या. पूर्ण. पूर्णमासाये. बृहच्च. बृहत इति. रथन्त. रथन्तराये. प्रजापतिर्जया. बभूव स्वाहा प्रजापतय इति. आभ्यातानहोमः अग्निर्भूताना. देवहूत्या ॐ स्वाहा अग्नये भूतानामधिप. इन्द्रो ज्येष्ठा. इन्द्रायज्ये. यमः पृथिव्या अ. यमाय. वायुरन्त. वायवे अ. सूर्यो दिवो. सूर्याय दिवोधिप. चन्द्रमानक्षत्रा. चन्द्रमसेन. बृहस्पतिर्ब्रह्म. बृहस्पतये ब्र. मित्रः सत्याना. मित्राय सत्या. वरुणो यामधिपति स. वरुणायामधिप. समुद्रः स्त्रोत्या. समुद्राय स्त्रो. अन्न ॐ साम्राज्या. अन्नायसाम्रा. सोम ओषधीना. सोमाय ओषधीना. सविता प्रस. सवित्रे प्रस. रुद्रः पशू. रुद्राय पशू. अप. स्पृश्य त्वष्ट्रे रुपाना. त्वष्टा रूपाणाम. विष्णुः पर्वता. विष्णवे पर्वताना. मरुतो गणाना. यस्तेमा. मरुद्भ्यो गणा. भ्य इति।

एतेषु सप्तदशस्वपि अस्मिन्ब्रह्मन्न. स्वाहेत्यनुषञ्जनीयं प्रतिहोमं वा सप्तदशान्ते वा पितरः पितरे वतेति यजमानं वाचयति।

अस्मिन् ब्रह्मन्निदम् आवर्त्तत इति यजमानं वाचयति।

अथ राष्ट्रभृतः

ऋताषाड्भृतः तु तस्मै स्वाहा ऋतसहस्त्रधाम्नेऽग्नये गन्धर्वायेदं. तस्यौषध.

ताभ्यः स्वाहा ओषधीभ्यो अक्षरोभ्य ऊभ्य इति, स ᳪ हितो. तस्मै स्वाहा, स ᳪ हिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गं दं. तस्यमरी. मरीचिभ्योऽक्षरोभ्य आयुभ्य इति, सुषुम्नः सू. सूषुम्ननाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वा. तस्य नक्ष. नक्षत्रेऽक्षरोभ्यो बेकुरिभ्य इति भुज्युः सुप. भुर्ज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वायेदं तस्य दक्षिणाः दक्षिणाभ्यो क्षरोभ्यस्तवाभ्य इदं, प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वायेदं तस्य ऋक्सामा. ताभ्यः स्वाहा, ऋक्सामभ्योऽक्षरोभ्यो वह्निभ्य इति. इषिरोवि. तस्मै. इषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वायेदं. तस्याधयोक्ष. ताभ्यः अद्भ्योऽक्षरोभ्यो मुदाभ्य इदं. भुवनस्य सनोरा. भुवनस्य प. परमेष्ठ्यधिप. तस्मै स्वाहा।

परमेष्ठिनेऽधिपतये मृत्यवे गं. तस्य विश्व. ताभ्यः स्वाहा विश्वस्मा अक्षरेभ्यो भूभ्य इदं. सुक्षितिः सु. तस्मै स्वाहा सुक्षितये सुभूतये भद्रकृते सुवर्वते. गन्धर्वा. तस्य विद्यु. ताभ्यः. विद्युद्भ्योऽक्षरोभ्यो रुचिभ्य इति दूरेहेति. तस्मै. दूरेहेतिरमृडयाय मृत्यवे गन्ध. तस्य प्रजा अ. भ्यः. प्रजाभ्योऽक्षरोभ्यो भीरुभ्य इ. चारुः कृपण. स्मै स्वाहा चारिणे कृपणकाशिने कामाय गन्ध. तस्याधयो. भ्य. अधीभ्योऽक्षरोभ्यः शोचयन्तीभ्य इदं. सनो भुव. उरू ब्र. भुवनस्य त य इदं.।

अथामात्यहोमः

यद्देवा देवहेडनं. मुत स्वाहा देवेभ्य आदित्येभ्य इदं. देवाजीवनं अग्निर्मा. गा. स ᳪ स्वाहा, अग्नये गार्हपत्यायेदं. ऋते नद्या. रिमस्वाहा द्यावापृथिवीभ्या ᳪ सरस्वत्या इति. सजातश ᳪ सा दुग्धि स्वाहा, जातवेदस इति. यद्वाचायन्म. अग्निर्मा. अग्नये गार्ह. यद्धस्ताभ्यां. निस्वाहा दूरे पश्याराष्ट्रभृद्भ्योऽक्षरोभ्य इति. अदीच्यं नृणं. अग्निर्मात्व. अग्नये गार्हयन्मयिमाता. अग्निर्मा. अ. गार्ह. यदापि पे. भवामि स्वाहा अग्नये अनृणायेदं. यदन्तरिक्षं स ᳪ स्वाहा, अग्नये गार्हपत्यायेदं. यदाशसानि. अग्नये गा. अतिक्रा. अग्न. त्रिते देवा अ. अग्नये गार्ह. दं. दिविजाता अ. नीः स्वाहा अद्भ्यः शुन्धनीभ्य इदं. यदापो नक्तं दु. न स्वाहा अद्भ्यो हिरण्यवर्णाभ्य इदं. दमं मेव. वरुणाये. तत्वाया. त्वन्नो अ. सत्वं नो अ. त्वमग्ने. अयसेऽग्नय. एते जयादिहोमा यजमानकर्तृका अध्वर्युकर्तृका वा भवन्ति, यदा अध्वर्युकर्तृकास्तदा न यजमानवाचनम्।

ततो दर्शपूर्णमासोक्ताद् दम्पती अश्नीयाताम्।

अथ सर्वौषधिहोमार्थमधिवृक्षः

सूर्यकाले अत्र सूर्यशब्दः सूर्यकिरणवाचकः, भूमिं त्यक्त्वा अधिगतवृक्षाः सूर्यकिरणा यस्मिन्काले सकले सकालो अधिवृक्षसूर्यस्तस्मिन्काले सर्वौषधिहोमाय सम्भारान्संहरेत्। सर्वौषधमाज्यस्थालीं सस्रुवां स्रुचं बर्हिर्वासो दीप्यानिक्षकालानित्येतत्समादाय सर्वौषधानि तिलमाषव्रीहियवाः प्रियंगुश्चणकगोधूमाः कुलित्था वा सप्तमा एते ग्राम्याः। श्यामाकनीवारजर्तिलागवीधुकागार्मुताः वेणुयवाः कुरुवीधाः सप्तमा इत्याख्याः। एताः समुच्चित्य प्रक्षाल्य सर्वौषधमाज्यस्थालीं स्रुवं च बर्हिर्वासो दीप्यान् शकलानित्यादाय वाससा सम्प्रच्छन्ना अध्वर्युर्यजमानो ब्रह्मा पत्नी च अम्बरीषं वोत्तमनीयं वा अभिप्रव्रजन्ति।

अम्बरीषो नाम श्रोत्रियागारादाहृतः। पञ्चनाग्निः अम्बरीषो वा अन्नं भ्रियत इत्याम्नातात्। उत्तमनीयम् इति दर्भेष्वग्निं समारोप्य पुनर्दर्भेषु संयुतं पुनस्तद्वत्तृतीयोऽग्निः स एषोत्तपनीयकः कपालसम्पात इति केचित्, अपि वा औपासनमेवाभिव्रजन्ति। अर्द्धमौपासनं कुर्वन्ति सर्वं वा ब्रह्मौदनिकम् औपासनं कुर्वन्ति सो न चैव हि हूयत इति।

अत्र उत्तपनीयां वरीयसोर्वा ब्रह्मौदनपाक औपासने आवाह्याग्नौ औपासनाग्नेः सर्वस्यैवाधानमर्द्धस्य वेति पक्षद्वयम्, तत्र सर्वाधानपक्षे अष्टकादीनि गृह्योक्तानि कर्माणि लौकिकाग्नौ कर्तव्यानि। अन्तर्धानपक्षे तु औपासनाग्निं द्वेधा विभज्यार्द्धमाधानं च स्वीकृत्य शिष्टोऽग्निभागे गार्ह्याणि कर्माणि कर्तव्यानि। तत्रापि सायं प्रातरौपासनहोमो वैकल्पिकः, ततः शकलानग्नौ प्रक्षिप्यादीप्या बर्हिषा परिस्तीर्य गृह्योक्तविधिना यावदपेक्षितपात्रासादनानि आज्यसंस्कारान्तं कृत्वाध्वर्युर्यजमानो वा जलावुपस्तीर्य सर्वौषधमप्यभिघार्य जुहोति।

अग्नये सर्वौषधाय पुष्ट्यै प्रजननाय स्वाहा।

अग्नये सर्वौषधाय पुष्ट्यै प्रजननायेदं. ततोऽध्वर्युस्तस्मिन्नेवाग्नौ जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इति हुत्वामात्यहोमं जुहोति, जयादिहोमा गोपितृयज्ञान्ते दर्शिताः कार्याः।

अथ स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा प्राजापत्यां जुहोति प्रजापतनत्वदेता. रयोणा ꣳ स्वाहा प्रजापतय इदं. अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वानुस्त्वां. जुहोति। अन्वग्निरुषसामग्र. जातवेदाः अनुसूर्यस्य. ततान स्वाहा अग्नय इदं. अथैतानङ्गारान्स स ते वा शरावे वा यजमानो गृह्णाति। आयुषे वा गृह्णामि, अथ तेजसे वो गृह्णामि तपसे वो गृह्णामि वीर्याय वो गृह्णामि ब्रह्मवर्चसा यवो गृह्णामि।

अथैतानादाय उपतिष्ठति आयुर्मामाविशतु। भूतिर्मामाविशतु, ब्रह्मवर्चसं मामाविशत्विति, तानध्वर्यवे सम्प्रदायो दायन्ति। अन्वारब्धे यजमाने यथागतमागत्य गार्हपत्यायतने न्युप्योपसमाधाय परिस्तीर्य उत्तरतः पात्राणि आसादयति। आज्यस्थालीं चरुस्थालीं मेक्षणञ्चोद्धरणपात्रं च स्रुवं च निर्वपणस्थालीं मुसलोलूखले शूर्पं च। अग्नेर्दक्षिणतो ब्रह्मयजमानावुपविशतः प्रोक्षणीं संस्कृत्य पात्राणि प्रोक्षति।

ततो लोहितं चर्मानडुहमग्नेः पश्चात्प्राचीनग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्य सपवित्रेण निर्वपणमात्रेण तस्यानडुहस्य चर्मणो वहननयोग्यदेशे पृष्ठस्थाने ग्रीवायां वा चतुरः पात्राणि व्रीहीणां निर्वपति।

ब्रह्मणे जुष्टं निर्वपानीति तूष्णीं वा प्रतिपात्रं मन्त्रावृत्तिः।

अथ निरुप्तानभिमृशति

आकूत्यै त्वा कामाय त्वेति। पुनर्व्रीहीन् शूर्पे निरूप्य। ब्रह्मणे जुष्टं प्रोक्षामीति त्रिः प्रोक्षति। तूष्णीं वा चर्माभ्युक्षति। तस्य पुनः कृष्णाजिने आनडुहे चर्मणि वा उलूखले निधाय व्रीहिनोऽप्यमुसलेनावहत्य त्रिः फलीकृत्य त्रिः प्रक्षाल्य तण्डुलान् शूर्पेण स्थाल्यां पवित्रवत्यां निर्वपणपात्रेण चत्वार्युदपात्राणि आनयति। स्थालीमग्रावधिश्रित्य तिरः पवित्रं तण्डुलानावपति।

आज्यं निरूप्याधिश्रयति। उभयं पर्यग्नि कृत्वा मेक्षणं स्रुवं च सम्मृज्य चरुं संस्कृताज्येनाभिघार्य उदं च मुद्वास्यति। अथैनमायति गवे काले आयति।

गावो यस्मिन्काले स आयतिगवः कालः।

परिकर्मिण ऋत्विग्भ्यः शृत्य ब्रह्मोदन इति प्राहुः, अध्वर्य्वादयः सर्वे महर्त्विजः सहागम्य उत्तरतोऽनुदिशं उपविशन्ति। उद्गातृपक्षे आग्नीध्रभोजनं नास्ति। महर्त्विज एव प्रागग्रीयुरिति द्वैधात्। तदभावसश्चाग्नीध्रः चतुर्थः। एताश्चतुर इति कल्पानुरोधात्। सति सम्भवे प्रनृत ऋत्विक्चतुष्टयाानुग्रहस्य न्याय्यत्वात्। यजमानोऽप्युद्धरणपात्र्यामुपस्तीर्य ब्रह्मौदनस्थालीं चालयति। व्रतमस्यामुद्धृत्य ओदनमध्ये गर्त्तं कृत्वा तस्मिन्प्रभूतमाज्यमानीय मेक्षणेनोपहत्य जुहोति प्रवेधसे कवये मे. वृष्णे। यथोभयमभयंतनो. हेड्यान्स्वाहेति। ब्रह्मण इदं. अनेन मन्त्रेणोपस्थानं वा कुर्यात्। तत्र न स्वाहाकारः।

अथैतानध्वर्य्वादय उत्तरतोऽनुदिशं परस्पराभिमुखमुपवेशमतानानुपूर्व्येणाचम्य तेभ्य एव मोदनमुद्धरणपात्र्या सह तेषां मध्ये भूमिमुपस्पृशं नाकर्षयन्तीव

प्रवेशयति। यज्ञमोदनमत्त्विति तूष्णीं वा अनुमन्त्रेषु वोदनं चतुर्धा कृत्वा पृथक् पृथगपोहति। ते मध्याद्ग्रासत्रयं प्राश्य यजमानं प्रशंसन्ति। राद्धस्ते ब्रह्मोदन इति तेभ्यः सांवत्सतरं ददाति ते संभुक्त्याचम्य तं प्रतिगृह्णाति, अन्यः कश्चिद्ब्राह्मण उत्तरत आसीनः क्षाममाषं मुखायं संलग्नमोदनं प्राश्नाति। तस्मै यत्किञ्चिद्ददाति यदाज्यमुपशिष्यते पात्र्यां तस्मिन्नासिक्ते प्रभूतमाज्यशेषेति स्त्रश्चित्र्याश्वत्थसमिधोऽभ्यज्याग्नावादधाति, समिधाग्निं दु. तिथिं आस्मिन्ह. तन स्वाहा अग्नय इदं. उप त्वाग्ने विष्मतीर्धृता चीयं तु. जुषस्व स. म स्वाहा अग्नय इदं. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो. यामसि बृहच्छो चा. ष्ठ्यः स्वाहा अग्नय इं. समित्स्वाहिता सुवत्सतरीं ददाति।

अथास्मै यजमानायाध्वर्युररणीं प्रयच्छं नाहवाचं यमो भविष्यसि। संशाधियते संशिष्यमिति स यजमानः परिक्रमिणः प्राह ब्राह्मणानायताश्च मे गोपायत। सम्भारान्निधत्तेति तस्य सुभिक्षं तृप्तं सर्वजनमग्न्याधेयं भवति।

ब्राह्मणभोजनमृते दुर्भिक्षं भवतीत्यर्थः। अध्वर्योररणीं प्रतिगृह्णन्यजमानो जपति महीविश्यत्नी सदने ऋतस्य. रयीणा. अन्तर्वलीजन्यं. पुरोगा आरोहतं दशत. सा ज्योग्जीवं त यजै इति अरणी उरसी श्लेषयति ऋत्विग्यवतीस्थो. ददे तत्सत्यं यद्वी. यिष्यथः तेनत्रातः प्र. यिष्यथः प्रजया पशुभिर्ब्रह्मलोके इति यजमानमनृतात्सत्यमुपनयति अनृतपरित्यागसत्याभिवादनरूपं सङ्कल्पं कारयतीत्यर्थः। मानुषाद्दैव्यमुपनयन्ति मानुषात्कार्यादपच्छिद्य दैवमेव कार्यं कारयति इदमहममृतात्सत्यमुपैमि मानुषाद्दैव्यमुपैमि दैवीं. च्छामि इति यजमानो जपति तं वाचंयमम् उत्तररात्रिं जारयन्त आस्ते शल्कैस्तां रात्रिमग्निमिन्धते शल्कैरग्निमिं, नेमहं उभयोर्लोक. तराम्यहमिति गार्हपत्यस्योत्तरतः कल्माषमजं बध्नाति। तेनाजेनैवमाधास्यमानं यजमानं संख्यापयति दर्शयति अध्वर्युः प्रजा अग्ने संवास. भिः सह राष्ट्रास्यस्मा आ. वितुः इति वाचंयमाद्ये तदन्तमपररात्रमिति केचित्।

अरणीप्रदानाद्यपररात्रि इति केचित्। अरणीदानोपश्लेषवर्जं सर्वं पूर्वरात्रे वा, अथाध्वर्युरपररात्र आहृत्यारणी निष्टपति, चतुर्थभागशेषा रात्रिरपररात्रं. उषः समीपकाले वा तस्मिन्नुपव्युषरणीन्निष्टपेदित्याम्नातात्। अस्मिन्नेव काले अध्वर्युर्यजमानहस्ताद्दक्षिणहस्तेनोत्तरारणीं सव्येनाधरारणीं स्वीकृत्य निष्टपेत्। जातवेदो भुवनस्य रेत इह. तिष्यते अग्निमश्वत्था. मयो भूः अयं ते योनिर्ऋ. रोचथाः तं जानं नग्न. रयिं एवं समारोपणात् लौकिकीभूतं ब्रह्मौदनाग्निं सते समोय्य गार्हपत्याद्दक्षिणतो ज्वलयन्तः परिकर्मिण आसते, ततोऽग्न्यायतनानि. शकृत्पिण्डेन परिलेपयन्ति अपेतवीत वि. नूतताः अदादि मृं यमो. कमस्मै इति

गार्हपत्यमेवमन्वाहार्य. पचता हवनीयौ तूष्णीं वा परिलेपनम् असम्भाराणां तृतीयभागमादाय गार्हपत्यायतने निवपति। अत्राध्वर्युर्यजमानोऽन्वारभते यत्पृथिव्या अनामृत ꣳ सम्बभूव त्वे स चा तदग्निरग्नये तदा तस्मिन्नाधियतामयमिति।

अथ सपत्नीको यजमानोऽपि मन्त्रं जपन्नध्वर्युमत्रारभते यदा उषान्पश्यति तदाभिमन्त्रयते यददश्चन्द्रमसि कृच्छ्रन्त तदपीहेति चन्द्रमसि कृष्णं मनसा ध्यायेत्।

तान्सम्भारानादधामि स्पृष्टाजयति। अग्नित्वे नावधारयतीति वा, अत एवादधातीत्युक्तं दिवस्त्वावी. महिम्ना अन्तरिक्षस्य. दधेति तान्मिश्रयति संवः सृजामि हृदयामि. हृदयानि वः आत्मा वो अस्तु संप्रिय. ममेति तान्समीकरोति कल्पेतां द्यावा पृथिवी. सव्रताः येऽग्नयः समनसोऽन्तरा. विशंत्विति अतिशिष्टाणां सम्भाराणाम् अर्धानादाय अन्वाहार्य पचने निवपन्ति यदन्तरिक्षस्यानामृत ꣳ संबभूवत्वे स चा यद्वायुरग्नये ददाति तस्मिन्नाधीयतामयमिति निवपनादिकं गार्हपत्यवत्। अतिशिष्टान्सम्भारानाहवनीयस्यायतने निवपन्ति यद्दिवोनामत ꣳ संबभूवत्वे स चा तदादित्यो स्मये ददातस्मिन्नाधीयतामयमिति निवपनादिकं पूर्ववत्। ऋतं वरेण्याधाने वासेति कावृद् इत्येवं प्रयोगः, सभावसथ्ययोः सभारानाधानं वैकल्पिकम्, आधानपक्षे आहवनीयसम्भारं त्रेधा विभज्य आदध्यात्।

सर्वं वा पञ्चधा विभजेत्, निवपनमन्त्रवर्जमन्यत्समानम्। अथ गोप्तारं परिकर्मिणं रक्षायै समादिशति, सपरिक्रम्या हविहृता अग्नयो मा कश्चनान्तरेण सञ्चारादिति अध्वर्युः प्रदक्षिणमाहत्यास्यायतने उपरिसम्भारेषु मुञ्जकुलायं निदधाति, तस्योपरि प्रागायतामुदगायतां वा धरणीं निधाय पश्चिमे मन्थनप्रदेशे उत्तरारणीं निदधाति, चित्तिस्रुक् चित्तमाज्यं. आस्मासुनृग्णंधात्स्वाहेति, योऽध्वर्युर्मन्थतेति यजमानादीन्ब्रूयाद् यजमानः प्रथमो मन्थति। यजमान उत्तमो मन्थति। अत्र मन्थनेऽग्निं मन्थनीयान् होता सम्प्रदायाद्यथा यद्वति तथान्यदपि मन्थने अधरारणिस्थापनम्।

अग्नेर्जनित्रमसि उत्तरारणिस्थापनम् उर्वश्यस्यायुरसि मन्थग्रहणं पुरूरवाः प्रजननं जनं घृतेनाक्ते मन्थनस्थापनमधरारण्यां वृषणौस्थः निष्पीडनस्थापनं वृषणं दधाथां रज्जूभ्रमणं गायत्रं छन्दोऽनुप्रजा. प्रजायस्व अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति यजमानादीन्ब्रूयाद् यजमानः प्रथमो मन्थति, यजमान उत्तमो मन्थति।

अथोद्गाता मन्थनारम्भकाले अरणीं स्पृष्ट्वा अरण्योरिति साम गायेत्। अस्य साम्नो भरद्वाज ऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः अग्निर्देवता अरण्योर्निहितो जातवेदाः गर्भा इवेत् सुभृतो गार्भिणा इति, दिवे दिवे ईड्यो जाग्रद्वद्भिः हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः

एभिः स्वाहा हो इडा मथ्यमाने अग्नि नर इति गायेत्। अस्य साम्नो वसिष्ठ ऋषिः विराट् छन्दः अग्निर्देवता हाउहा उहाउ अग्नि नराः दीधितिभिररण्योः हा उहा उहा उहस्ता च्युतां च्युतां जनयन्तं प्रशस्तं हा उहा उहा उ दूराई दृशां दशां गृहपतिमथर्युं हा उहा उहा उउ दिधूमे स्त्वेषस्ते धूम ऋण्वतीति सामं गायेत्।

अस्य साम्नो यमऋषिः अनुष्टुप्छन्दः अग्निर्देवता त्वेपस्ते धूम सण्वती हा उ दिविषं शुक्र आततः सूरो न हिहा उद्युता तु वां कृपा पाहा उकरो चा सा दू (इ)।

ॐ इडा अग्नौ बलवती जाते यजमानो वाचं विसृजेद् वरं ददामीति उद्गाता प्रज्वलिते अदर्शि वा त्विति गायेत्। अस्य साम्नः कौशिकऋषिः बृहतीछन्दः अग्निर्देवता आदर्शिगातु वित्तमां उ यस्मिन्वतान्यादङ्वः, उपोषुजाहा हाइ तमार्यस्य वर्धनं अग्नाइ भक्षा हा हा उ तनोगिरः हा हा ॐ इडा यजमानोऽध्वर्युणा सहजातामग्निमुपतिष्ठते अजीजनं न मृतं डुजंभं दशस्वसारो दंभसामिति, अग्नेरुपरि नासिकाभ्यां वायुर्निष्क्रमयति तदभिप्राणजम् अभिप्राणनं यजमानं प्रजापतेस्त्वा प्राणिभिः पूष्णो यो मह्यं दीर्घायुत्वा. दाय शनं शर. वर्चसे जीवात्वैपुण्याय प्राणेन त्वा. मादधामि अन्नासु. द्याय गोप्तारं गुप्सा इति निधीयमाने अग्निमीडे इति गायेत् त्रिर्ब्रूयात्।

अथाध्वर्युरुद्गातारमाह—रथन्तरं ब्रूहीति अस्य साम्नः गवाव्रत ऋषिः गायत्रीछन्दः अग्निर्देवता हा उ हा उ हा उ वा अग्निमीडे पुरोहितं देवेषु त्रिधियाः हा उ हा उ वा यज्ञस्य देवमृत्विजं देवेषु त्रिधियाः अहं हा उ हा उ हा उ होतारं रत्नधातमं देवेषु त्रिधियाः, अहं देवेषु त्रिधियाः, अहं च उद्गातुरभावे ब्रह्मन् छन्दांसि ब्रूहीति ब्रह्मा हिं त्रिः कुर्याद् योनिं वा त्रिर्ब्रूयाद् व्याहृतिर्वा त्रिर्ब्रूयात्।

अथैनं गार्हपत्यमादधाति स्पृष्ट्वा जपति। गार्हपत्यत्वे नावधारयति ज्वलयति वा, अथ गार्हपत्यायतनस्य पश्चात् कृष्णाजिने मुञ्जकुलाये मथित्वाऽस्मिन्काले प्राञ्च युष्टात्थाधानं ऽ भूर्भुवो धर्मः शिरस्तदयमग्निः संप्रियः पशुभिर्भुवत्।. छदिस्तोकायतनयाय यच्छ, भृगूणां त्वादेवानां व्रतपते व्रतेनादधामि भार्गवो गायत्रेण छन्दसा। आङ्गिरसां त्वादेवानां व्रतपते व्रतेनादधाम्याङ्गिरसो गायत्रेण छन्दसा। सर्वेषां गायत्रेण छन्दसा। सर्वेषां गायत्रेण छन्दसेति।

एवमन्येषां गोत्राणां भूर्भुवो धर्मशिरस्तादित्यादि। आदित्यानां त्वां देवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति। आत्रेयो गायत्रे छन्दसा। इत्यत्रिणाम्। एवं कश्यपो गायत्रेण छन्दसेति। एवं वसिष्ठो गायत्रेणाद्युक्तमसि। भृगवङ्गिरसोर्वर्गद्वयव्यतिरिक्तगोत्रो

गायत्रेण छन्दसेति। इत्यादि। यथा यजमानगोत्रमुच्चारणमथर्व इति। अत्रादित्या ऋषयः। अग्नेरुत्तरतो अग्नादेव सौवर्णशकलं निदधाति। स्वया तनु वा सं भवेति।

अथैनं राजानं शकलं वृषलाय वा मूर्खाय वा ब्राह्मणाय प्रयच्छति। अथ यजमानोऽध्वर्युश्च गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अहं त्वदस्मि. योनिरस्मि। यमैव सन्वह. ज्जातवेदः। सुगार्हपत्यो दिदहं राती. र्दधत्। अग्नेसपत्ना. सुधेहीति। अथान्वाहार्य पचनाधाने पक्षद्वयं गार्हपत्याल्लौकिकाग्नेरेव वा। तत्र लौकिकाग्निपक्षे ब्रह्मोदनाग्रे वृक्षाग्रा ज्वलतो ब्रह्मवर्चस्यकामस्य विट्कुलाद्वित्तकामस्य। यथा कामाधानम्। गार्हपत्यादेवाधानं प्रशस्तम्।.

तत्र त्रेधामहिमानम्। व्यौहत इत्यादि ब्राह्मणात्। इदं तदाधानमन्त्रः, भूर्भुवो वातः प्राणस्तदय. र्भवतु। स्वदितं लोकं तन् या यपितुं पचम्। अमीषां त्वादेवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति। अयथर्षि यथागोत्रं गायत्रेण छन्दसेति उत्तरतो हिरण्यशकलमुपास्यति। (स्वया) स्वस्य तनुवासं भवेति। रजतं पूर्ववत्। प्रदायाग्निमुपतिष्ठते। इमा उमामुपष्ठंतुरा. सेय। इहो इडातिष्ठतु. वेद इति। तत आहवनीयाधानार्थं गार्हपत्यमभ्येत्य प्रणयनार्थं समित्कलापं गार्हपत्येभ्याधाय तथा ज्वलयति यथा त्योदिते सूर्ये आहवनीयप्रणयनयोग्यो भवतीति मन्यते।

उपयमनं मृत्पूर्णपात्रं समीपे आसादयति। अश्व एकः पूर्ववाह्यु वा बलवान् प्रत्युषितः स्नापितो गार्हपत्यपुरस्तात्तिष्ठति। अश्वाभावेऽनड्वान्। अजो वा अविर्वा। कमण्डलुर्वा। अग्न्युद्धरणे प्रारब्धे।

अथोद्गातारमाह

वामदेव्यं ब्रूहीति। अस्य साम्नो वामदेव ऋषिः, गायत्री छन्दः विश्वेदेवा देवता उद्गाता कायानश्चा इत्रा। अभूवात् ऊती सदावृधः सखा। औहो हा ई। कया शचा इ ष्ठ वै हौ हिना। वार्तो हा इ। कस्त्वासत्योमदानाम्। मंहिष्ठो मत्सदंधसः। औ हो हा इ। दृढा चिदा रुजौ हो हामा, वासो हा इ। अभिषुणा। सखीनाम् अविता जहा इतृणाम्, औ हो हा इ, शमं भवा। सिय्यौ हो हिं मा। तापो हा इ।

उद्गातुरभावे ब्रह्मन् छन्दांसि ब्रूहीति प्रैषः। समा सम्भयात्। ब्रह्मयोनिं त्रिर्ब्रूयाद् बाह्यतर्वा त्रिर्जपति। त्रिर्वा हिं कुर्यात्। व्याहृति-हिंकारपक्षेऽपि स एव प्रैषः। तमादीप्तमग्निं पात्रे निधाय उपयमनेनोपयम्य उद्यच्छते। ओजसे बलायत्वोद्यच्छे वृषणे शुष्मा यायुषे वर्चसे। सपत्न. अग्ने जुषमाण एहि दिवः पृथिव्याः

पर्यन्तरिक्षा. षधीभ्यः यत्र यत्र जा. ण एहि। अनेन मन्त्रेणाग्निं जानुदघ्नमुद्धृत्याहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्यं त्रेधा विभज्य प्रथमभागं गच्छेत्।

ततो नाभिदघ्नमुद्धृत्य द्वितीयं भागं गच्छेत्, ततोऽग्नौ वा दघ्नमुद्धृत्य तृतीयं भागं गच्छेत्।

अथवा इध्ममाधान एवैत मात्रमभिसम्पादयेत्। एतच्चाधोऽधः शिरं हरतीत्यादि ब्राह्मणे व्याख्यातम्, अश्वपूर्वैर्नयति तमनुमन्त्रयते प्राचीनमनु प्रदि. र्भवेह विश्वा अशा. चतुष्पदे इति मध्येगमानादुपरमन्ति विक्रम स्व. षेभ्यः त्रिषुलो. गृहीति ततो गच्छति अन्वग्निरुषसा. तवेजा:। अनुसूर्यस्य. ततानेति, अथाग्निमन्यस्य हस्ते प्रदाय प्राङ्मुखस्याश्वस्य दक्षिणेन पूर्वपादेन संभाराणामुत्तरदेशे आक्रमयन्ति। यथा हि तस्याग्नेरङ्गाराः पादयोरुपरि लुण्ठेरन्। तथा क्रमेद् अथैनमश्वं प्रदक्षिणमावृत्याद्भिरभ्युक्ष्य उदञ्चमुत्सृजति, स एषोऽश्वो ऊर्ध्वयोः संभवति, अन्यमश्वं ब्राह्मणो ददाति सूर्यस्यार्द्धोदयकालं प्रतीक्ष्य प्रदक्षिणमावृत्य प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन्नग्निसम्भारेषु प्रतिष्ठापयति, सर्वोदिते ब्रह्मवर्चसकामस्येति केचित् संभारेषु प्रतिष्ठापनमुपस्थानं चाध्वर्युमेव वा यदिदं दिवो य. भूवतुः तयोः पृष्ठेसी. नुवेस्योनः प्राणं त्वा. आदधामि अन्नाद. द्याय गोप्तारं गुप्त्या इति।

बृहत्साम गायतेति बृहतो भारद्वाज ऋषिः बृहती छन्दः ककुभा उत्तरे इन्द्रो देवता औ हो त्वामिद्धि हवामहा ए सा तौ वा जास्या कारावाः उवा औ हो वा वृत्रा इषु वा ई द्रासातु पतिनराः त्वां काष्ठां औ हो वा सू वार्याः ताः उहा वां हा उवां ह स त्वा औ ह इ तु वामे काष्ठा सूआर्वाताः सत्वा औ हो वा नश्चौ इत्र वाजनाहा स्ता धृष्णु या महास्तवा औ हो वा नो आद्रा इ वाः औ हो हा उ वाह अ हो म इम स्तवा औ हो वानो आद्रा इ वाः औहो हा उ वाह अहो मइम हाय गामा औ हो वा शूचां रथा ई इंद्र सां का इरा सात्रा बाज औ हो वाजा इग्यषा इ औ हो वां हा उ रथन्तरस्य इन्द्र ऋषिः गायत्री छन्दः अग्निर्देवता अश्वं नत्वा औ हो हा इ वारावातां वंदध्याहाइ अग्नाइ नमः औ हो वा इहा हा इ उद्रुवाभिः सम्राजं तमाध्वरा औ हो वा इहा हाइ औ होणां एहियां हौ इ डासद्यानः सा औ हो हा इतुः शावा सा पृथुंपाए गामासुशा औहो वा इहा हा इ इ उवा मीढां अस्माकं बभूऔ हो वा इहा वा इहा औ हो यात् एहिमाहां होइ इति उद्गतुरभावे ब्रह्मन्, छन्दांसि ब्रूहीति वा ततो द्गृहती गीयमाने आहवनीयमादधति भूर्भुवः स्वः अक्रश्चक्षूस्तदसौ. र्भवतु यत्ते शुक्रं ज्योतिरजस्रं तेन स्वदीदि हि तेन्स्वादधेग्निनाग्ने भरद्वाजानां त्वादेवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति इत्यादि पूर्ववत्।

रजतशकलप्रदानान्तं समानम् आहवनीयमुपतिष्ठते आनशेव्या. नशे इति अत्रैतावग्नी आदधाति सभ्यं चावसथ्यं च तयोरुद्धननप्रोक्षणसंभारनिवपनानां विकल्पः व्याहृतिधर्मः शिर इत्यादयो न सन्ति, भृगूणामित्यादिना मन्त्रेणाधानम् आहवनीयात्प्राचीनदेशे सभ्यः ततः प्राचीने आवसथीयो रथचक्रं प्रवर्तयति सन्ततगार्हपत्यादाहवनीयात्।

ततोऽग्नीन्परिसमूह्य परिस्तीर्य यजमानः सर्वौषधेन व्याहृतिभिः स्वाहोकारोनाभि सर्वेष्वग्निषु जुहोति ओषध्यः सत्तूवः पुष्पं कालं मूलं फलं तृणं एनद्धस्तेन जुहोत, नान्यत्किञ्चिदचोदनादिति हस्तेन होतव्यम् आज्यं संस्कृत्य स्रुवं जुद्गृं च सम्मृज्य तत एकैकस्मिन्नग्नौ पंच पंच नानावृक्षाः समिद्धोम्याज्या दधाति।

समिध्यमानः प्र. विश्ववारः शोचिष्केशो. देवान् स्वाहा इत्याश्वत्थीं घृतप्रतीको. मस्यान्नं घृतप्रषस्त्वा. यक्षिदेवान्स्वाहेत्यौदुम्बरीं त्वामग्ने समिधानं य. हव्यवाहम् उरूज्रय सं. चोदयन्वति स्वाहेति पालाशीं त्वामग्ने प्रदि. समीधिरे समावृधान. वितिष्ठसे स्वाहेति शमीमयीं घृतप्रुतीकं वऋ. ऋंजते इंधानो अक्रो. धियं स्वाहेति वैंकं कर्ती सर्वेषामग्नय इति याजमानम्।

एवमेवान्वाहार्यपचने एवमाहवनीये संभारवपनादि-समिदाधानान्तं यजमानेनान्वारम्भः कर्तव्यः।

ततः प्रदक्षिणमावृत्य गार्हपत्यस्य पश्चात्तिष्ठन्यजमानस्तनूभिरुपतिष्ठते ये ते अग्ने शिवे तनु वौ विरा. जिन्वतां ये ते अग्ने शिवे तनु वौ संम्रा. जिन्वतां यास्ते अग्ने शिवास्तनुवस्ताभिस्त्वादध इति। एवं ये ते अग्ने शिवे तनुवे सर्वाभिः प्रत्येकमग्नी उपतिष्ठते, यजमानो द्वेष्येष्यन् ध्यायन् घोरा तनूरनुदिशति, यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः, ताभिः पाप्मानं गच्छामि योऽस्मान् द्वेष्टि यं द्विष्म. याहते अग्न इत्यनुवाकद्वयेन वा द्यास्ते अग्ने घोरास्तनु वः क्षनुवः चक्षू क्षूच्च तृष्णाच्च अग्निक्रानादृगृतिश्च। अशनया च पिपासा च सेदिश्चा महिश्च, एतास्ते अग्ने घोरास्तमुवः ताभिः पाप्मानं गच्छ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः स्निष्क्र स्निहितिश्च उच्छच. च उग्राच. च सदाम्नी. निरा एतास्ते. घोरास्तनु वः इत्यादि निर्देशन. प्रत्येकम् अग्नित्रयस्य कार्यम् उद्धननप्रभृतिविराजक्रमोपस्थानान्तं सर्वं सहयाजमानम् अप उपस्पृश्य तत्रैव तिष्ठन् विराजक्रमैरुपतिष्ठते, नर्य प्रजां मे गोपाय अमृत त्वा. वसे जातां ज. णांच अमृते स. स्थितामिति गार्हपत्यस्य अथर्व. पाय रसमत्र. ये अदब्धायो. तनो अविष. कृणु।

इत्यन्वाहार्यपचनस्य श ॐ स्य. गोपाय द्विपादो. ष्यदः अष्टाश. हाग्ने ये चैकश. शूगा इत्याहवनीयस्य सप्रथ सभां मे गोपाय ये च स. सदः तानिंद्रि. कुरु

सर्वमा. सन्ता इति सभ्यम् अहबुध्नि. पाय यमृष. विदुः ऋचः सा. जू ॐ षि साहि श्रीर. सत्यामित्यावसथीयम्।

ततः स्वगृह्योक्तक्रमेण आज्यं गार्हपत्ये संस्कृत्य स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वाहवनीये समिधमाधायाहि यमभिषिच्य परिश्रिते आपश्रिते वा पूर्णाहुतिं तिष्ठन् जुहोति आसीनो वा सप्तते अग्ने स. प्रियाणि सप्तहोत्राः स. घृतेन स्वाहा, अग्नये सप्तवत इदं. पूर्णाहुतेर्वरं ददाति।

अग्नये पृथिव्यै वायवेऽन्तरिक्षाय सूर्याय दिवे वरुणेभ्यः स्वाहेति।

अथवा पूर्णाहुते संसर्गतः कुर्यात् पुनराज्यं संस्कृत्य तेनैवाज्येन वा स्रुवेण कूष्माण्डैर्जुहुयात्, यद्देवादेव हेलनं यददीव्यम् आयुष्टे विश्वतो दधदिति त्रिभिरनुवाकैः प्रत्यृचं हुत्वा वैश्वानराय प्रतिवेदयाधाम इत्युपस्थानं यः समिधमाधाय वरं दत्वा अथाग्निहोत्रपात्राणि प्रक्षालितानि उत्तरेण गार्हपत्यं कूर्चे वा सूनायां वाद्वद्वन्यं चिसादयति सूनाधारणफलका पूर्वादुत्थादपरो दुत्थादिति नियमार्थं स्थालीं स्रुवस्तु च चमाभिद्योतनं जघनेन गार्हपत्यमुपविश्य प्राणानायम्य सायं प्रातस्तूष्णी-मग्निहोत्रं होष्यामीति सङ्कल्प्याग्नीन्परिस्तीर्य कूर्चे आज्यस्थाल्यामाज्यमानीय जघनेन गार्हपत्यमुपसाद्याग्नीन् क्रमेण परिसिञ्चति सव्यं त्वर्तेन परिषिञ्चामि ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामि इति द्वाभ्यां संस्कृत्य परिषेकाय, आज्यं गार्हपत्येधित्या भियोत यति अग्निस्ते तेजो मा प्रतिधाक्षीदिति।

आज्ये द्वे दर्भाग्रे प्रक्षिप्यामि मृशति अमृतमसीति पुनरभिद्योत्य त्रिः पर्यग्नि-करोति, अन्तरितॐरक्षोऽन्तरिता अरातय इति सकृत्प्रंणद्विस्तूष्णीम् आज्यस्थालीमुदगुद्वास्य। अङ्गारान्प्रत्यूह्य दक्षिणेन हस्तेन स्रुवं समिधं च सव्येनाग्निहोत्रहवणीं च युगपदादत्ते, देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति। गार्हपत्ये प्रतितपति। प्रत्युष्टॐ रक्षः प्रत्युष्टा अरातय इति।

कूर्चे अग्निहोत्रहवणीं निधाय यजमानमामन्त्रयते 'ओमामुन्नयेति' 'ओमुन्नोचि' अग्निहोत्रहवण्यां स्रुवेण चरुन्नयति 'भूरिढा', 'भुवइडा' भूर्भुवः स्रुवरिडा इति प्रतिमन्त्रम्।

एवमेव द्वितीयं चतुर्गृहीत्वा इडाल्पां स्रुवं प्रत्यगग्रं निधाय स्रुचि प्रागग्रं समिधं निधायाज्यं द्वयं सम्मृज्य। सजूर्देवैः सायं प्रातर्यावभिः सायं प्रातर्यावाणोमादेवास्वस्तिसपारयंतु पशुभिरिति। समिधा सहोत्र हवणीमादायावहरण-कूर्चमधः कृत्वानीय तत्कूर्चं त्यक्त्वा जहनेन गार्हपत्यमुदगग्रे रूपमादायानीय कूर्चे सादयति।

नम ईशानाय व्रजाः पशवो ये वर्धन्तामहं, यजमानो मारिषादिति। दशहोतारं व्याख्यापो पा वहरणीयं कूर्चेन सदादाय प्राणसंमितमाहवनीयसकाशं गच्छति।

भूर्भुवः स्वरूर्ध्वं त्वन्तरिक्षं ह्ययं पन्था विततो देवयानो येनायं नृषयः स्वर्गकामास्तेन गच्छामि परं यो अपथा नयेत्प्रीयेसूकृतां सकाशादिति। जघनेनाहवनीयवेद्यां प्रागग्रेषु उपसादनीयः कूर्चे सादयति।

नम ईशानाय प्रजां मे वर्धन्तामहं यजमानो मारिषमिति समिधमाहवनीयस्य मध्ये आदधाति। रजतां त्वाहरिणीं त्वग्निः सूर्यः ज्योतिषं वायुमतिं स्वर्गं स्वर्गाय लोकाय रात्रिमह रक्षितिमिष्टिकामुपदधे मृतं प्राणेऽपाने दधामीति। प्रजापतिस्त्वासादयत्विति। समिधं स्पृष्ट्वा जपति। तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुसीदेति। ता अस्य सूददो हसः सोम ॐ श्रीणंति पृश्नयः। जन्म देवानां विशः स्त्रिष्वा रोचने दिव इति। उप उपस्पृशति। विद्युदसि पिद्यमे पाप्मानमिति। समिध्यादीप्तायाम् अग्निसूर्यौ ध्यात्वा तूष्णीं प्रथमाहुतिं जुहोति यजमानः।

अग्निसूर्याभ्यामिदं त्र्यृचं सकृज्ज्वालो परिप्राडभीत्वा कूर्चे स्रुचं निधाय प्रदक्षिणमावृत्य गार्हपत्यं प्रतीक्षते। उपप्रेत सङ्गच्छध्वं माभागिनां भागधेयं प्रमायि। सप्त ऋषीणाॐ सूकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च दत्तेति द्वितीयामाहुतिं प्रत्येकं बिलयास्रुचा स्रुचा पूर्णाहुतिमतिक्रम्य समिधः पूर्वभागे पूर्णाहुतेर्द्रव्यं जुहोति। प्रजापतये स्वाहा प्रजापतय इदं न ममेति।

स्रुचमग्रेरुपरि त्रिर्नीत्वेति वा। तल्पं कूर्चे स्रुचं निधायाप उपस्पृशति। वृष्टिरसि वृश्च मे पाप्मानमिति स्रुच्यग्रमारभ्य प्रत्यगङ्गुलिनाधोमुखेन पाणिना अबिलवमृज्य स्रुच उत्तरतः कूर्चे तादृशेनैव पाणिनावमार्ष्टि। ओषधीभ्यस्त्वौषधीर्जिन्वति। प्राङ्मुखेनोत्तानेन पाणिना स्रुचो विलमारभ्याग्रमुन्मार्ष्टि स्रुच उत्तरतः कूर्चे तादृशेनैव पाणिना उन्मार्ष्टि। ओषधीभ्यस्त्वोषधीर्जिन्वति।

प्रथमावमार्जनवत्कूर्चे लेपमवमार्ष्टि। पितृभ्यस्त्वापितॄन्जिन्वति। उभयत्रापि याजमानम् ओषधीभ्य इदं न ममेति। प्राचीनावीती। स्रुचो दक्षिणतः कूर्चे उन्मार्ष्टि पितृभ्यस्त्वेति यजमानः। प्राचीनावीती पितृभ्य इदं न ममेति। अप उपस्पृश्य हुतशेषमध्वर्युः द्विः प्राश्नाति। प्रजाज्योतिरिति प्रथमम्। एवं द्वितीयं प्रतिप्राशनमाचमनम्। अपसव्यमुदङ्मुखमावृत्य प्राचीनदण्ड्या स्रुचा भक्षयति। कलियुगे हस्तेन भक्षयन्ति।

इदॐ हविः प्रजननं मे अस्रुदशवीरॐ सर्वगणॐ स्वस्तये। आत्मसनि प्रजासनि पशुसन्यभयसनि वृष्टिसनि अग्निः सूर्यः प्रजां बहुलां मे करोतु।

अत्र पयो रेतो अस्मासुध त्स रायस्पोषमिषमूर्जमस्मासु दीधरत्स्वाहेति। स्रुचं निर्णिज्याहवनीये निष्टप्याद्भिः पूर्णा आहवनीयस्योत्तरतः किञ्चिन्नयति। सप्तऋषीन्प्रीणीहि सप्तऋषीं जिन्व सप्तऋषिभ्य इदं, गार्हपत्यस्य पश्चात्किञ्चिन्निनयति। इदमहमग्नौ वैश्वानरेऽमृतं जुहोमि स्वाहेति, अग्नये वैश्वानरायेदम् अन्तर्वेदि किञ्चिन्निनयति। अक्षित्यामक्षिताहुतिं जुहोमि स्वाहेति अक्षित्या इदं स्रुवं कूर्चे निधायाग्निषु क्रमेण शकलान्निक्षिप्य प्रज्वाल्य पूर्ववत्परिषिञ्चति।

ऋतं सत्यं चेति पत्नीयजमानयोर्हस्ते स्रुक्स्थजलमुन्नयति। उपस्थाने विकल्पः।

अथ पवमानेष्टिः

सा च दर्शपौर्णमासप्रकृतिका। अत्र विशेषमात्रं वक्ष्यते। यजमानः पत्न्या सह प्राङ्मुखेषु दर्भेषूपविश्य तदनु हविभिर्यक्ष्ये। इति त्रिरुपांशु त्रिरुच्चैरुक्ता। तदनु हविषाम् अग्नीषोमावाज्यभागौ। अग्निः पावमानः अग्निः पावकः अग्निः शुचिः इन्द्राग्नी अदितिश्च प्रधानदेवताः देवा आज्यपाः अग्निः स्विष्टकृत् प्रयाजानुयाजादि-देवतास्तन्त्रेण यक्ष्य इति सङ्कल्प्य। अग्न्यन्वाधानादिव्रतसमिदाधानान्तं कुर्यात्।

अत्र पौर्णमासतन्त्रम्। अध्वर्युर्देवागातुविदा इति जपेत्। इध्मसंनहने ततस्त्वामेकवि ं शतधेत्यूहः। हस्तसंमर्शनादि विधाय पात्रासादनादि कुर्यात्। पात्रासादने विशेषः, कपालानि त्रिचत्वारि ं शत ४३ इत्यनुवर्तव्यम्। चरुस्थालीं च सादयेत्। ब्रह्मोपवेशनादि हविनिर्वपणात् प्राक्समानम्। निर्वापकाले देवस्य त्वा सवितुः इत्यारभ्य अग्नये जुष्टं निर्वपामि। अग्नये पवमानाय जुष्टम्, अग्नये पावकाय जुष्टम्। अग्नये शुचये जुष्टम्, इन्द्राग्निभ्यां जुष्टम्, अदित्यै जुष्टम्, निर्वपामीति समानं कर्माधिवपनात्। पूर्वम् अदित्या चर्वर्थं तण्डुलान् विभज्य अदित्यै वः इति तण्डुलान् अभिमृशेत् आसंवपनात् समानम्। अग्नये जुष्टम्ं संवपामि। अग्नये पवमानाग्नये पावकायाग्नये शुचये इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं निर्वपामीति समानं कर्म आह विरासादनात्। हविष्यमासाद्य होतारमामन्त्रयते। प्रतिवचने अग्न्यादय उपांशव इति। होतुरावाहने विशेषः। आज्यभागो देवतानन्तरम्। अग्निना ३ वह। अग्निं पवमानं आ३वह। अग्निं पावकं आ३ वह। अग्निं पावकं आ ३ वह। अग्निं शुचिं आ ३ वह। इन्द्राग्निं आ ३ वह। अदितिं आ ३ वह। सर्वत्रावह इत्युच्चैः। देवा आज्यपा इत्यादि। समानं वार्त्रघ्ना वाज्यभागौ। अग्निर्वृत्राणित्वं सोमा अग्ने यस्य अग्नय इत्युपांशु। अनुब्रूहात्युच्चैः अग्निर्मूर्धेति

पुरोऽनुवाक्या, ये ३ यजामहेऽग्निं भुवो यज्ञस्येति याज्या। वौषडित्युच्चैः। यजमानः अग्नय इदं अग्ने रहदेव. न्नादो भूयासम् अग्नये पवमानायानुब्रू३हि। होता अग्न आयू ६ षि. च नः, आरेबाध. ना ओं इत्युच्चैः। आश्रावय प्रत्याश्रावित आह। अग्निं पवमानं यजति। होता ये ३ यजामहे अग्निं पवमानमग्ने पवस्व स्व पासुवीर्यम्।

अधद्रयिं मयि पोषं वौषट्। अग्नये पवमानायेदं. अग्नेः पवमानस्या. न्तादाभूयासम्। अग्नये पावकायानुब्रू३हि होता। अग्ने पावकरोषिषाङ्क्या। आदेवा. च। ओं. ३ आश्रावित प्रत्याश्रावित आह। अग्निं पावकं यज। होता ये ३ यजामहे अग्निं पावकं स नः पावकं ही दि. वहा।

उपयज्ञं हविश्च ना वौ३षट्। अग्नये पावकायेदं. अग्नेः पावकस्यान्नादो भू. अग्नये शुचये नु ब्रू३हि, होता। अग्निः शुचिव्रत. कविः शुचिरो. हुतः ओं आश्राव्य प्रत्याश्रावित आह। अग्निं शुचिं यज। होता। ये ३ यजामहेऽग्निं शुचिं उदग्ने शुचयस्त. ते तवज्यो. या वौ. अग्नये शुचय इदं. अग्नेः शुचेरहं. न्नादोभूयासम्। इन्द्राग्निभ्यामनुब्रू३हि।

होता इन्द्राग्नीरो. थः। तद्वाचे. र्यं ओ ३ आश्राव्य प्रत्याश्रावित आह। इन्द्राग्नी यज। होता ये ३ यजामह इन्द्राग्नी श्नथद् वृत्रमुतसनो तिवा. पर्यात्। इरज्यं ताव. तावौ. इन्द्राग्निभ्यामिदम् इन्द्राग्न्योरहं. न्नादाभू. अदित्यै अनुब्रू३हि। होता अदितिर्न उ. च्छतु। अदितिः पा. हसः ओं ३ आश्राव्य प्रत्याश्रावित आह।. अदिति यज होता ये ३ यजामहे अदिति महीमूषु. द्धवेम। तुविक्षत्रामजरं. णीति वौ ३. अदित्या इदम् अदित्या अहं दे. ज्यया ६ हसो मुचेयं। सर्वत्र अनुब्रू३हि। आश्रावय अस्तु श्रौषट्। ये ३ यजामहे वौषट् एतान्युच्चैः। उपांशुमन्त्रेषु मन्त्राणि समानं कर्मा स्विष्टकृतः। होता ये ३ यजामहेऽग्निं स्विष्टकृद् मया लग्निरगेः प्रियाधायान्ययाट् सोमस्य प्रियाधामान्य पालग्नेः प्रियाधामान्य पालग्नेः पठमानस्य प्रिया. लग्नेः पावकस्य प्रि. लग्नेः शुचेः प्रि. लिंद्राग्न्योः प्रि. लदित्याः प्रि. याट् सर्वत्र प्रि. लित्युच्चैः देवानामाज्यपानामित्यादि समानं कर्मान्वाहार्यसादनात्। अन्वाहार्यमासाद्य अग्न्याधेयदक्षिणां ददाति। अग्नीदिदं त उपबर्हणम् इत्यभिमन्त्र्य ददाति। अश्वं बहिः स्थितं ब्रह्म नयं ते अश्व इति दर्भेणाभिमन्त्र्य ददाति। होतरेते धेनुरित्यभिमन्त्र्य ददाति।

अध्वर्यो एष तेऽनड्वान् गोमध्यस्थितमनड्वाहमभिमन्त्र्य ददाति। उद्गातुस्ते हिरण्यवाससी इत्यभिमन्त्र्य ददाति। हिरण्यं वात्र शतमानम् ऋत्विजः युष्माकम्। एतौ मिथुनौ गावौ वासः पञ्चगावश्च।

अथानिर्दिष्टं प्रतिगृह्णीध्वम् इति। ते सप्तदशकृत्वा पान्यविगृह्णीयुः। देवस्य त्वेत्यादि ब्रह्मण उपबर्हणं ब्रह्मणे अश्वं ब्रह्मणेऽनड्वाहं ब्रह्मणे शतमानं वाससी ब्रह्मणे मिथुनौ गावौ। अत्रापि पुल्लिङ्गनिर्देशः। ब्रह्मणे गा इत्यूहेन प्रतिग्रहः। आग्नीध्र ब्रह्मा च ते नामृतत्वमिति ब्रूयाताम्। होता तयामृतत्वम् इति। अध्वर्युस्ते नामृतत्वमिति। उद्गाताभ्यामृतत्वमेति ब्रूयाताम्। सर्वे मिथुनौ गावौ पञ्चगावश्च यथालिङ्गं प्रतिगृह्णीयुः।

एतासां दक्षिणानाम् असम्भवे एकां गां वा दद्यात्। चरुं चत्वारो महर्त्विजः प्राश्नीयुः। हविरुच्छिष्टोद्वासनादिसूक्तवाकादर्वाक् समानम्। होता आज्यभागानन्तरम्। अग्निरिदं तार्वा. कृत। अग्निः पावमान इदं तावी. कृत। अग्निः पावक इदं ता. कृत। अग्निः शुचिः इदं. कृत। इन्द्राग्नी इदं जुषेता. क्राताम्। अदितिः इदं कृत। देवा आज्यपा इत्यादि। ब्राह्मणतर्पणान्तं समानम्। अस्मिन्पक्षे तदानीमेवाश्वपदिकस्योत्सर्गः। एवमिष्टिद्वयपक्षे इष्टित्रयपक्षे वा इष्टिचतुष्टयपक्षे तु। आधानदिवसे आग्नेयी इन्द्राग्नादित्यां च कृत्वा तस्मिन्नेवाश्वपदिके।

अग्निहोत्रारम्भः

द्वादशाहव्रतं च त्रयोदशेऽह्नि अवशिष्टमिष्टिद्वयं कृत्वाश्वपदिकस्योत्सर्गः प्रथमपक्षे धृता उत्तरत्राजस्राग्नित्रयधारणपक्षेऽश्वपदिकस्थापनत्यागः। इष्टिनाम समानतन्त्रपक्षे।

अभिदेवत्या प्रथमेष्टिः

द्वितीया इन्द्राग्न्यादितिदेवत्या तृतीया अग्निः पवमानदेवत्या चतुर्थः अग्निः पावकाग्निः शुचिदेवत्या। अस्मिन्पक्षे प्रथमायामग्न्याधाय दक्षिणां ददाति। द्वितीयायां यणवा प्रणम्यनकाले ब्रह्मन् दृतं प्रणेव्यामीत्युक्ता घृतेन चरुकार्यं कुर्यात्। तत्र चरुशेषप्राशनमेव दक्षिणा। तृतीयस्यां त्रिंशन्मानं हिरण्यदक्षिणा चतुर्थ्यां त्रिंशन्मानं चत्वारिंशन्मानो हिरण्यं दक्षिणा। इष्टित्रयपक्षे प्रथमाया इष्टेः अग्निः पवमानश्च देवते। अस्मिन्पक्षे प्रतीष्टी अग्न्याधेयदक्षिणा चतस्रश्चतस्रो दद्यात्। इष्टिद्वयपक्षे प्रथमाया आद्याश्चतस्रो देवताः, द्वितीयाया इन्द्राग्नी अदितिश्चाष्ट-वमिष्ट्यानन्तरम् अश्वपदिकम् उद्वासयेत्, अग्नयः प्रणयनपक्षेऽपि द्वादशाहमजस्राः स्युः। यजमानस्य द्वादशाहं नानृतं वदतीत्यादि व्रतचर्या। इत्याधानं समाप्तम्।

परित्वग्ने पुरं वयमिति गार्हपत्यं प्रति एत्य गार्हपत्यमेवोपतिष्ठते। अग्ने गृहपते सुगृहपतिरहं त्व. पतिना भूया इत्यादि पूर्वोक्तजपे ज्योतिष्मतीमित्यन्यम्।

ओषधीभ्यस्त्वौषधीर्जिन्वेत्यादि। अध्वर्युपक्षे परिषेचनात्। उन्नवने पञ्चावत्तीनां चतुर्मन्त्रेण पञ्चसमुन्नयनम्।

अग्निहोत्रहोमद्रव्याणि

तैलं दधि पयः सोमो यवागूरोदनं घृतम्।
तण्डुलानां समाऽऽपश्च[१] होमे द्रव्याणि[२] वै दश॥
तैलसर्पिषोरमृतमसीति दर्भाग्रे प्राशयेत्।
दधितण्डुलसोमानामधिश्रयणं सेचने न स्तः॥

येन कर्मणा यद्धविः[३] सिद्धं भवति तेन तस्य तत्कर्म कुर्यात्।

।।इति श्रीमद्राजाधिराजश्रीपरमेश्वरवीरहरिहरसकलसाम्राज्यधुरन्धरस्य वैदिकमार्गस्थापनाचार्यस्य श्रीसायणाचार्यस्य कृतौ[४] यज्ञतन्त्रसुधानिधौ अग्निहोत्रहोमप्रकरणं समाप्तम्।।

सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि[५]।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम्॥

।।शके १७३६ भावनामसंवत्सरे[६] चैत्रकृष्णचतुर्दशी तद्दिने अभयङ्करकाशीनाथात्मजसदाशिवेन गजाननहस्तेन लिखितं स्वार्थं परार्थकम्।।

।।श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

---

१. समापणियश्च; २. द्रव्या; ३. यस्यविः।
४. श्रीसायणाचार्यकृतौ; ५. अखिलेश्वरी; ६. भावानामसंवत्सरे।

मन्त्र-श्लोकानुक्रमणिकाः

क्रम सं.	मन्त्रश्लोक सूची		पृष्ठ सं.
१.	अग्निमीले पुरोहितं	—	१३
२.	अग्निर्वै शर्माण्यन्नादीनि	—	१३
३.	अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृते	—	१५
४.	अग्नेरुर्ध्वं भवत्येषा	—	१५
५.	अग्नवग्निश्चरति प्रविष्ट	—	२२
६.	अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यक्	—	४६
७.	अत एव हि कालाग्नि	—	१५
८.	अप्सु सोमो अब्रवीत्	—	४५
९.	अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै	—	१८
१०.	अधीताः सकला वेदाः	—	५१
११.	अधीताः सकला वेदाः	—	६
१२.	अन्यथा अधर्मेणाधिगतो	—	५९
१३.	अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या	—	१५
१४.	अरूणा करूणामूर्ति	—	४८
१५.	अरूपदेवदेवात्म	—	४८
१६.	अयं वै लोको गार्हपत्यः	—	१६
१७.	अहं वैश्वानरो भूत्वा	—	१३
१८.	आदानं हि विसर्गाय	—	४३
१९.	आधार शक्त्यावधृतः	—	१५
२०.	आध्वर्यवेण हौत्रेण	—	५१
२१.	आपः पृणति भेषजं वरूथं	—	४५
२२.	आ वात वाहि भेषजं	—	४४
२३.	इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था	—	१९
२४.	ईशानां वार्याणां क्षयन्तीश्च	—	४५
२५.	उपेन्द्रस्येव यस्यासी	—	५०
२६.	उपेन्द्रस्येव यस्यासीदिन्द्रः	—	५
२७.	उद्वाहे पुत्रजनने	—	६०

क्रम सं.	मन्त्रश्लोक सूची		पृष्ठ सं.
२८.	ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम	—	१५
२९.	ऋत्विजश्च पवनादित्रयं	—	६४
३०.	एक विंशतिदर्भपिंजूलैः	—	६४
३१.	एतदर्थं विशेषेण	—	४२
३२.	एवं प्रवर्तितं चक्रं	—	२३
३३.	ओजोन मण्डलेनात्र	—	४२
३४.	कल्पाध्वक्रमतः प्रयोग	—	५०
३५.	गर्भो अस्योषधीनां	—	१३
३६.	गर्भो यो अपां गर्भो वनानां	—	१३
३७.	जामदग्न्या वत्सविदा	—	२४
३८.	तदद्य बहुसन्देह	—	५१
३९.	तदर्थमचिरादेव	—	४२
४०.	तस्मादेव समस्येयं	—	४२
४१	तस्या भूदन्वयगुरु	—	५
४२	तावुभौ भूतसंप्रक्तौ	—	१७
४३.	ताम आपः शिवाः सन्तु	—	७७
४४.	ते तपस्तेजसां राशि	—	५०
४५.	ते तपस्तेजसां राशि	—	६
४६.	तेन मायणपुत्रेण	—	२
४७.	तेषां तद्वचनं श्रुत्वा	—	५१
४८.	तैलं दधि पयः सोमो	—	९२
४९.	तैलसर्पिषोरमृतमसीति	—	९२
५०.	त्वमिमा ओषधीः सोम	—	११
५१.	द्वाविमौ वातौ वात आ	—	४४
५२.	द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	—	२१
५३.	द्विविधा तेजसो वृत्तिः	—	१५
५४.	देवा यद्यज्ञं तन्वाना	—	२२
५५.	देवान् भावयतानेन	—	७
५६.	न जीवत्पितृकः कुर्यात्	—	६१
५७.	न वै अपत्नीकस्य हस्ताद्	—	२६

क्रम सं.	मन्त्रश्लोक सूची		पृष्ठ सं.
५८.	नाना भौतिकसत्पदार्थ निचयैः	—	४७
५९.	पर्यावरणक्षार्थं जलशुद्धिः	—	४२
६०.	पितामहमहं वन्दे	—	४८
६१.	पिशङ्गां द्रापि प्रति	—	१३
६२.	पूर्वे तु ग्रन्थकर्तारो	—	५१
६३.	प्रजापतिश्चरति गर्भे	—	२०
६४.	प्र मातुः प्रतरः गुह्यमिच्छन्	—	१२
६५.	मण्डले चक्रपालस्य	—	५०
६६.	मन्मूल भूतमालोच्य	—	३
६७.	मम योनिर्महद् ब्रह्म	—	२०
६८.	मरूतः परिवेष्टारो	—	८
६९.	महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्	—	२०
७०.	माता भूमि पुत्रोऽहं	—	४७
७१.	मातृश्राद्धं तु पूर्वं स्यात्	—	६१
७२.	यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं	—	२२
७३.	यददो वात ते गृहेऽमृतस्य	—	४४
७४.	यस्मिन्महोत्सवे सन्तः	—	५०
७५.	यस्मिन्निश्वसितं श्रुति	—	५०
७६.	यस्य निःश्वसिता वेदा	—	६
७७.	यस्याभून्वयगुरूस्तत्र	—	५०
७८.	यस्यामापः परिचराः	—	४५
७९.	यज्ञप्रयुक्तं चिरतन्त्रजातं	—	४८
८०.	यज्ञात् भवति पर्जन्यः	—	४६
८१.	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	—	७
८२.	यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	—	२३
८३.	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	—	७
८४.	याः प्राचीरेवतीर्मधु	—	७७
८५.	यातु गन्धारसावर्णा	—	७६
८६.	या सामिमेत्रयो लोकाः	—	७७
८७.	यो देवेभ्य आतपति	—	२१

क्रम सं.	मन्त्रश्लोक सूची		पृष्ठ सं.
८८.	रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	—	२१
८९.	वागीशाद्याः सुमनसः	—	४९
९०.	वात आ वातु भेषजं	—	४४
९१.	वेदाः सर्वेऽपि यज्ञार्थाः	—	५१
९२.	वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादि	—	१९
९३.	वेदोक्त यज्ञादिक कर्मजातैः	—	४१
९४.	वैज्ञानिकेऽपि कालेऽस्मिन्	—	४२
९५.	व्याख्यातात्रध्ययजुर्वेदौ	—	३
९६.	शंत आपो हैमवतीः	—	४५
९७.	शं त आपो धन्वन्याः	—	४५
९८.	शिवश्चोर्ध्वमयः शक्ति	—	१५
९९.	स पितुः पितृकृत्येषु	—	६१
१००.	स पुनर्विप्रकीर्णत्वाद्	—	५१
१०१.	स तैः प्रकाशितोपान्तः	—	५०
१०२.	समधिकविभवश्रीः	—	५०
१०३.	सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा	—	७
१०४.	सर्वाबाधा प्रशमनं	—	९२
१०५.	संगृह्य सारं कृतवान्	—	४६
१०६.	सं यदशिशिषति यत्पिपासति	—	१४
१०७.	संवत्सरोऽग्निः	—	१६
१०८.	सप्त कुर्वन्महादाना	—	५०
१०९.	सत्सूत्रोचितशाखतागम	—	४९
११०.	सर्वयोनिषु कौन्तेय	—	२०
१११.	सूर्याचन्द्रमसौ प्रकाशनपुषा	—	४९
११२.	हरिहरनिभभूपो कामदो	—	४९
११३.	हस्त्योष्ट्यो हंसमुख्यश्च	—	६९
११४.	श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या	—	२२
११५.	श्रीविश्वनाथमखिलोत्तम	—	४८

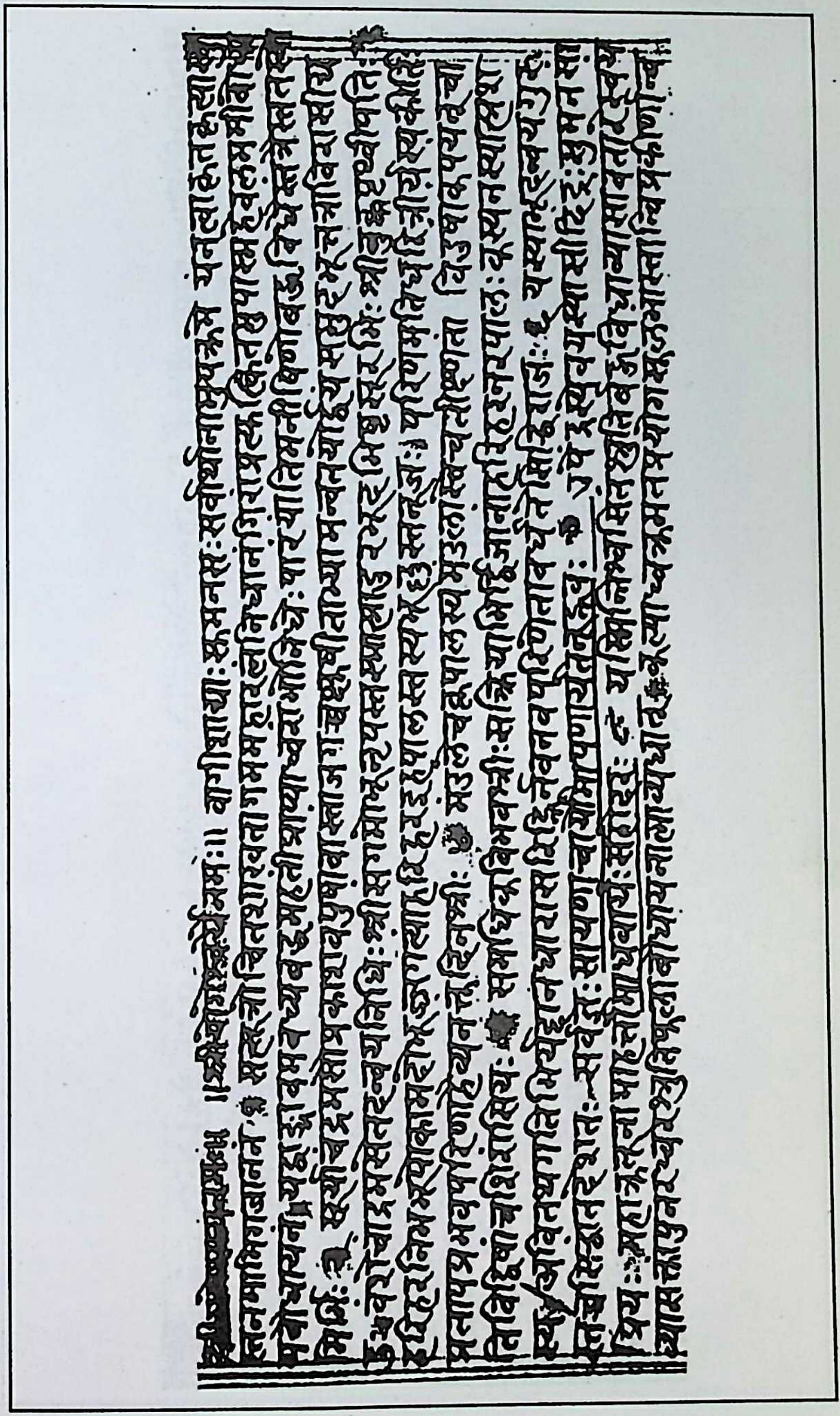

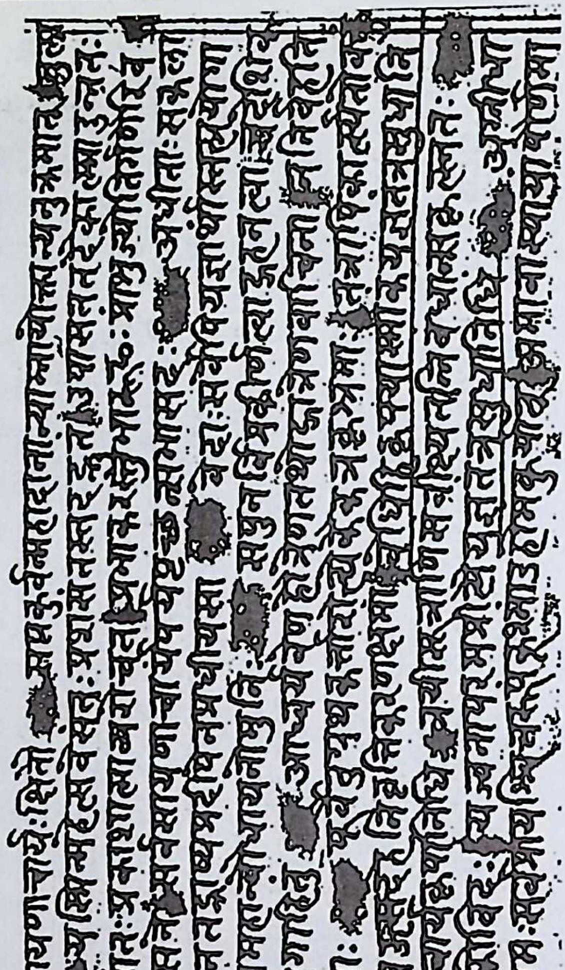

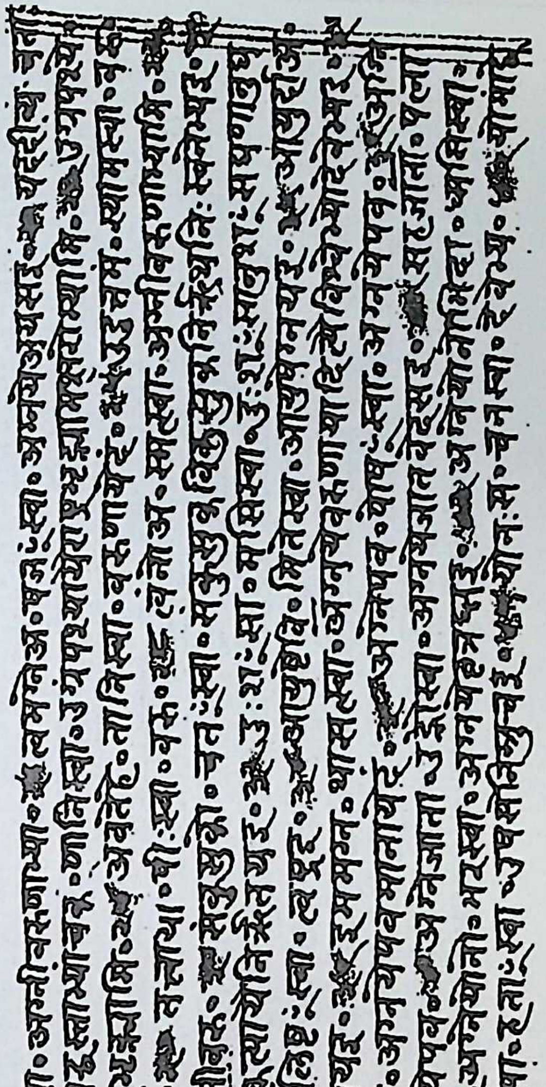

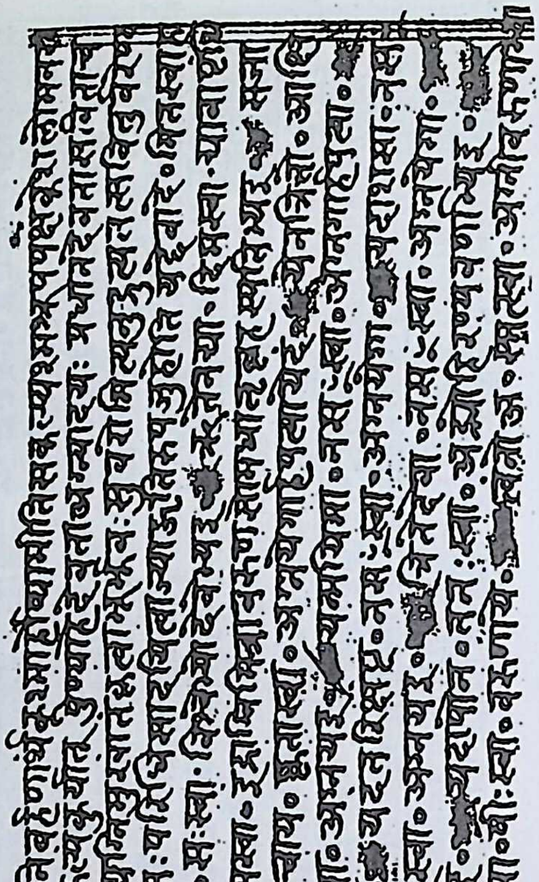

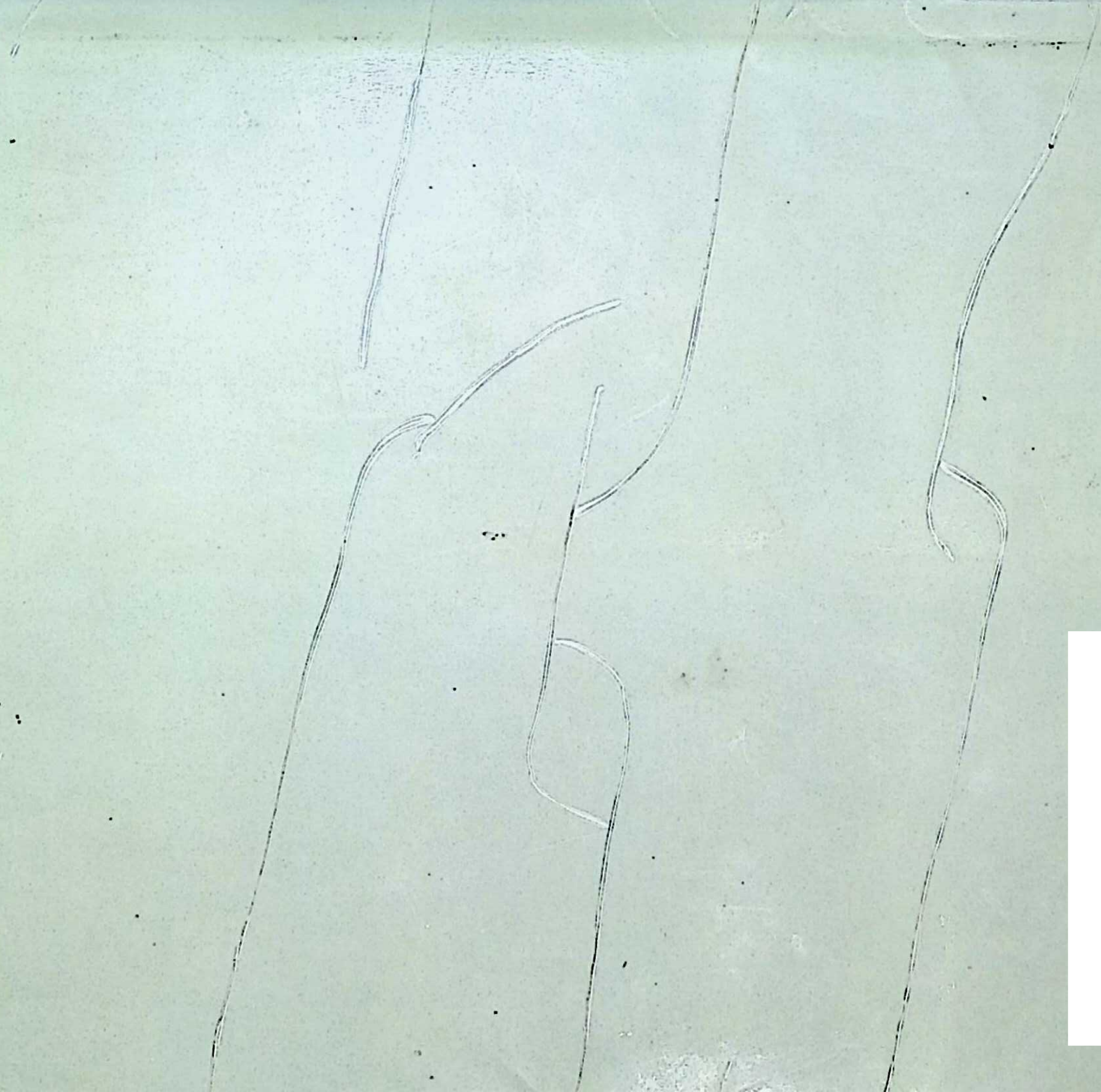

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स, वाराणसी